॥ ओ३म् तत्सत् ॥

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ४ — अंक ४

Year 4 — Number 4

श्री रामचन्द्र मिशन शाहजहाँपुर (उ० प्र०)

(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission

Shahjahanpur. U. P. (India)

सम्पादक मंडल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहांपुर

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) — एक अंक १)

प्रकाशक—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट, शाहजहांपुर

उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादकीय-अनन्त यात्रा		२
३—सहज मार्ग की शिक्षा पद्धति	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	१३
४—अनन्त यात्रा (क्रमागत)		१७
५—सुख तो है लेकिन चैन नहीं	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	२१
६—पानी के प्रयोग	काशीराम अग्रवाल	२६
७—भजन	संध्या	३१
८—स्तवन	श्वेताश्वेतर उपनिषद् से उद्धृत	३२
९—Meditation on Heart	Shri Ram Chandra Ji President, S. R. C. M.	33
१०—Meditation	Shri Raghavendra Rao	36
११—Talks on Shri Babu Ji's Commentary on Ten Commandments of the Sahaj Marga Commandment 5 & 6 by Dr. K. C. Varadachari M, A., Ph. S.		42
१२—Misunderstandings about yoga IV Sadhana Chatushtaya	Shri Ishwar Sahai	53
१३—Priceless Gems	Shri Ram Das Chaturvedi, Advocate	57

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठम जाग्रम प्राप्य बरान्निबोधत ।
(उठो! जागो! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो ।)

वर्ष ४ Year 4] पौष शाकाब्द १८८२, सं० २०१८ विक्रमी December 1960 [अङ्क ४ No. 4

॥ प्रार्थना ॥

हे नाथ, तू ही मनुष्य–जीवन का ध्येय है ।

हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं ।

तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।

बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादकीय :—

अनन्त यात्रा

किसी भी विषय के वैज्ञानिक अध्ययन में अनुभवों के वस्तुगत विवरण (Objective Description of experiences) का अत्याधिक महत्व है। अत: अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या-विषयक साधना में भी स्थितियों के कम-बद्ध चित्र की मांग की जाती है। स्थितियों का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास लगभग सभी साधना-पद्धतियों में किया गया है। किन्तु इन विभिन्न विवरणों में अनुभव के विशेष पक्षों पर बल पाया जाता है : कहीं दिव्य रङ्गों, स्वरों आदि का अनुभव अध्यात्मिक उन्नति का चिन्ह माना गया है, कहीं अद्भुत सिद्धियों और शक्तियों की प्राप्ति को महत्व दिया गया है, कहीं चित्त की स्थिरता और बुद्धि की निर्मलता में उत्तरोत्तर बृद्धि पर बल है, और कहीं सूक्ष्म से सूक्ष्मतर आनन्द के अनुभव को यात्रा की प्रगति का द्योतक माना गया है। स्थूल-शरीर-सम्बन्धी अनुभवों की भी उपेक्षा नहीं हुई है, बल्कि चक्रों और नाड़ियों का सम्बन्ध प्रधानत: स्नायुविक-आंतरङ्गिक-ग्रान्थि-संस्थान (Neuro-vascular-glandular system) की क्रियाओं से हो रहा है, जिसके परिणामस्वरूप अनेक आधुनिक पाश्चात्य शरीर-शास्त्री हठ-योग की साधना-पद्धति में रुचि रखते हैं।

यात्रा के विवरणों की ऐसी भिन्नतायें यात्रियों की वैयक्तिक विभिन्नताओं का परिणाम होती हैं। यात्रा का वर्णन निरीक्षण (Observation) और अभिव्यक्ति (Expression) पर निर्भर होता है जो यात्री की रुचि और मानसिक क्षमता के द्वारा चुनाव (Selection) और संश्लेष (orgenisation) पर आश्रित होते हैं। इन सामान्य (general) कठिनाइयों के अतिरिक्त अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या-विषयक साधना-सम्बन्धी यात्रा का विवरण प्रस्तुत करने में कई विशिष्ट कठिनाइयां भी आती हैं :—

(१) अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या का विषय अन्य साधारण निरीक्षण

के विषयों की तुलना में अत्यधिक सूक्ष्म और विरल है, अत: तत्सम्बन्धी निरीक्षण के लिये विशेष सावधानी और अभ्यास की अपेक्षा होती है।

(२) अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या-विषयक साधना व्यक्तित्व को स्वस्थ और अतिसाधारण (super normal) दिशा में विकसित करती है, जो साधारणत: आत्म-श्लाघा और आत्म-प्रशंसा का भाव उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक निरीक्षण की तटस्थता (objectivity) कायम नहीं रह पाती। परिणामत: अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या-विषयक यात्रा का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्वसनीय वस्तुगत विवरण (Reliable objective account) अत्यन्त दुलभ है।

(३) मानव-चित्र और इच्छा की सृजनशीलता के परिणामस्वरूप आध्यात्मिक और ब्राह्मी स्थितियों के स्वाभाविक रूप में आने से पूर्व ही उनके कृत्रिम रूप में उत्पन्न किये जाने की सम्भावना रहती है। आत्म-श्लाघा की प्रेरणा इस सम्भावना को और अधिक प्रोत्साहन प्रदान करती है। परिणामत: 'वैराग्यं', 'नष्काम कर्तव्यपरायणता', 'लोककारुण्य' 'निर्वाण', यहां तक कि 'पूर्णत्व' जैसी आध्यात्मिक और ब्राह्मी स्थितियों को हस्तगत कर चुकने की घोषणा करने वाले अनेक विक्षिप्त और प्रवञ्चक महानुभाव यत्र तत्र उपलब्ध हैं, और उपर्युक्त उच्च स्थितियों के प्रहसनात्मक रूप प्रस्तुत करने में संलग्न हैं, जिसके कारण स्वयं अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या सच्चे और सदाशयी वैज्ञानिकों के लिये जुगुप्सा और तटस्थता (Indifference) का विषय बन गये हैं। इतना ही नहीं अनेक साधारण मनुष्य भी साधना से नितान्त अपरिचित अथवा कुछ पूजा, जप, तीर्थ-स्नान, प्रवचन, श्रवण आदि करके उपर्युक्त स्थितियों पर अपना स्वत्व समझने लगते हैं, और सुने सुनाये ज्ञान के आधार पर प्राप्त किसी स्थिति का काल्पनिक रूप कृत्रिम ढङ्ग से अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित करके उसे तत्सम्बन्धी स्थिति का वास्तविक रूप समझने लगते हैं। ऐसी ही मनोवृत्ति साधना में प्रवृत्त होकर वास्तविक आध्यात्मिक और ब्राह्मी स्थितियों को प्राप्त करने में बाधक बन जाती है। इन स्थितियों के वास्तविक और अवास्तविक रूप में बहुत बड़ा अन्तर है, यद्यपि वह इतना सूक्ष्म है कि बिना दोनों का सावधान रूप से अनुभव प्राप्त किये, किसी प्रकार उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता।

उदाहरणार्थ राजकुमार सिद्धार्थ में 'वैराग्य' और 'लोक कारुण्य' की प्रचुर मात्रा प्रारम्भ से ही मौजूद थी, किन्तु बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद 'धर्म-मेघ' अवस्था में यह स्थितियां जिस रूप में उन्हें प्राप्त हुईं वह तो कुछ चीज ही और थी। जाने कितने लोग जाने कितनी तरह से अपने को 'अहिंसक' समझते हैं, किन्तु पातञ्जल योग सूत्र के 'अहिंसा प्रतिठाने तत्सान्निधौ वैरत्यागः' में जिस स्थिति को व्यक्त करने का प्रयास किया गया है, उसके उदय होने पर तो अभ्यासी के स्वाभाव की कोमलता का कोई वार पार ही नहीं रहता, अपना बड़े से बड़ा अहित करने वाले शत्रु के प्रति हृदय कृतज्ञता अनुभव करता है, और उसके लिये आशीष की धार फूटती है। ऐसी स्थिति में प्रतिष्ठित व्यक्ति के चारों ओर एक अहिंसात्मक परिवेश उत्पन्न होजाता है, जिसकी परिधि में जो भी आता है, उसपर वैसा ही प्रभाव पड़ता है। साराँश यह कि अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या को वैज्ञानिक स्तर पर अध्ययन और अन्वेषण के लिये सुलभ करने में वास्तविक स्थितियों का सम्भ्रम उत्पन्न करने वाली अवास्तविक स्थितियों की ओर से बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता होगी।

(४) साधारण जीवन की दशा और आध्यात्मिक तथा ब्राह्मी स्थितियों में आन्तरिक दृष्टि से बहुत अधिक भेद होने पर भी बाह्य दृष्टि से लगभग नगण्य अन्तर होता है, जैसे कि आँख से देखने पर शकर मिले हुये और शकर न मिले हुये दूध में भेद। साधारण व्यक्ति और योगारूढ़ व्यक्ति दोनों ही दुःख का प्रसंग पैदा होने पर हर स्वीकृतः पैमाने की दृष्टि से लगभग समान रूप से ही दुःखी होते हैं, किन्तु दोनों में भेद बस इतना ही होता है कि योगारूढ़ व्यक्ति अपने आस्तित्व के उस अन्तरतम केन्द्रीय मेरु दण्ड से चिपका हुआ होता है, जिसे सुख दुःख आदि कोई भी द्वन्द छू नहीं पाते (यद्यपि वही इन सबका आधार है), जब कि साधारण व्यक्ति इसी द्वन्द को अपने आस्तित्व का केन्द्र बना कर उससे चिपका रहता है। अतः आन्तरिक स्थिति के परिवर्तनों का सम्यक् निरीक्षण करने के लिये अन्तर्मुखी दृष्टि की आवश्यकता रहती है, जिसका बहुत से लोगों में अभाव होता है। ऐसे लोगों की दृष्टि कोई स्थूल परिवर्तन तलाश करती रहती है, अतः

ऐसे अभ्यासी ऊबने लगते हैं, और या तो साधना को ही व्यर्थ समझने लगते हैं, या फिर कोई स्थूल साधना पद्धति अपना लेते हैं।

(५) इसी कठिनाई से सम्बद्ध एक और कठिनाई आध्यात्मिक विकास की गति के विषय में है। शारीरिक विकास की भाँति ही आध्यात्मिक विकास भी निरन्तर (continuous) होता है, यद्यपि उसकी गति कभी मन्द और कभी तीव्र होती है। अतः स्थितियों के परिवर्तन को ग्रहण करने केलिये अभ्यासी के निरीक्षण की योग्यता और गति विकास की गति के साथ समायोजित होना चाहिये। ऐसे समायोजन के अभाव में विकास की मन्द गति के समय अभ्यासी घबराने हैं कि उसकी प्रगति रुक गई है, (और ऐसा विचार उसकी इच्छा शक्ति को प्रभावित करके सचमुच अवरोध उत्पन्न करने लगता है), और विकास की तीव्र गति के समय इतना अभिभूत होजाता है कि अनेक स्थितियों के निरीक्षण का होश ही नहीं रहता। एक कठिनाई इसी विषय में और भी यह है कि शारीरिक विकास की मन्द और तीव्र गति का समय तो निश्चित रहता है, जैसे कि किशोरावस्था (Adolescence) आदि, अतः उस विशेष समय पर मन्द या तीव्र परिवर्तन का निरीक्षण करने के लिये पहले से तैयार रहा जासकता है। किन्तु आध्यात्मिक विकास का तीव्र अथवा मन्द होना 'सद्गुरु' 'प्राणाहुति', 'अभ्यास' और 'कृपा' आदि पर निर्भर होता है, अतः किसी भी एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक पहुँचने में हजारों वर्ष भी कम होसकते हैं, और एक क्षण भी अधिक हो सकता है। एक ही साधना-पद्धति के कई अभ्यासियों द्वारा दिये गये विवरणों में बहुधा इसी कारण से भिन्नता दिखाई पड़ने लगती है।

(६) अभ्यासियों की अभिवृत्ति (attitude) अधिकाँश वैयक्तिक-अभिरुचि-प्रधान रहती है, अतः यात्रा का निर्वैयक्तिक (Impersonal) विवरण प्रस्तुत करना हर अभ्यासी के लिये सम्भव नहीं होता। अधिकतर अभ्यासी तो अन्तर्निरीक्षण के लिये बाध्य किये जाने पर 'बहुत अच्छी हालत रही', अथवा 'तबीयत लगी नहीं' से अधिक कुछ बता नहीं पाते। ऐसे वक्तव्यों के आधार पर यात्रा का कोई सुसम्बद्ध चित्र तैयार होपाना सम्भव नहीं हो सकता। साथ ही 'अपनी पसन्द' को 'यात्रा' से अधिक

महत्व देने लगता यात्रा की प्रगति में बाधक हो सकता है। यह बात किसी भी विषय के सम्यक् वैज्ञानिक अध्ययन पर लागू होती है, फिर अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या की तो विधि ही 'अपने को खोकर अपने वास्तविक रूप को पाना' है। अतः अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या में कुछ आगे चलकर 'समर्पण' से अधिक प्रभावशाली कोई अन्य तरीका है ही नहीं। 'अपनी पसन्द' किसी न किसी रूप में रहती अवश्य है, अन्यथा यात्रा पर कोई अग्रसर ही क्यों होने लगा, किन्तु कुछ आगे चलकर अपनी पसन्द यात्रा की सञ्चालक नहीं रह जाती, बल्कि इस के ठीक विपरीत यात्रा ही अभ्यासी की अपनी पसन्द की पथ प्रदर्शक बनजाती है।

(७) वैज्ञानिक अध्ययन की विधि तथ्यात्मक (Factual) होती है, न कि मूल्यात्मक (Valuative), यहां तक कि आधुनिक नीति शास्त्र (Ethies) और सौन्दर्य शास्त्र (Aesthetics) में भी 'सत्', 'शुभ', 'सुन्दर' आदि को वास्तविक जगत् के तथ्यों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। किन्तु अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या-विषयक साधना के अभ्यासी अधिकतर मूल्याङ्कनात्मक अभिवृत्ति ही लेकर चलते हैं। इस में तब तक कोई हर्ज भी नहीं, जब तक कि किसी विशिष्ट मूल्य के प्रति दुराग्रहपूर्ण आसक्ति न उत्पन्न होने लगे। उदाहरणार्थ 'अहिंसा' की हालत यात्रा के किसी विन्दु (Point) पर पैदा हुई, और अभ्यासी ने उस हालत में हृदय की कोमलता को उससे पहले की हालत की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ पाया, जैसा कि वह वास्तव में है। इतना निरीक्षण और इतनी रीझ उचित है, किन्तु यदि इस हालत के प्रति ऐसी आसक्ति पैदा होगई कि इसकी तुलना में राम और कृष्ण का युद्ध के लिये उद्योग अनुचित और हेय प्रतीत होने लगे, तो आध्यात्मिक प्रगति के लिये एक बन्धन उत्पन्न हो गया, जो यात्रा के वर्तमान विन्दु से आगे के विन्दु की ओर बढ़ने में बाधक बन जायेगा। सम्भव है कि अगले विन्दु पर हृदय की कोमलता का वैसा रूप न रह जाये, जैसा कि वर्तमान विन्दु पर है, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अगला विन्दु वर्तमान विन्दु की तुलना में हेय है। अभ्यासी का कदम हमेशा आगे ही पड़ना चाहिये, अतः किसी भी

विशिष्ट मूल्य के लिये दुराग्रहपूर्ण आसक्ति यात्रा की प्रगति में बाधक होजाती है, और यात्रा का यथार्थ विवरण दे सकना कठिन होजाता है। ऐसी दुराग्रह-पूर्ण आशक्ति अत्यन्त सामान्य (Common) है और एक सच्चे सद्गुरु को श्रेष्ठ अभ्यासियों तक को इस दुर्बलता के विरुद्ध सचेत रखना पड़ता है, और बहुधा तो अभ्यासी को जबरदस्ती आगे बढ़ाना पड़ता है। अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या-विषयक यात्रा में एक से एक बढ़ कर हालतें आती हैं, किन्तु कोई भी ऐसी हालत नहीं, जिससे आगे उससे श्रेष्ठ हालत मौजूद न हो। इसी लिये तो यह यात्रा अनन्त है, और अन्त भी जो जाने सो जाने, और जो हो सो हो। अभ्यासी को श्रेष्ठता के विषय में भी कोई पूर्व-निश्चित-धारणा बनाकर नहीं चलना चाहिये। अपने आप में श्रेष्ठ तो बस एक उसी की जात है, जो साधना का चरम लक्ष्य है, और उसी को छूकर सभी कुछ श्रेयस्कर बन जाता है।

(८) अन्त में एक सब से बड़ी कठिनाई यह आती है कि साधना के प्रारम्भ से ही अनुभवों की समुचित अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, और काफी आगे पहूंच कर तो स्थितियों का अनुभव गूंगे का गुड़ ही बन जाता है। इतना ही नहीं, उन्हें किसी प्रकार व्यक्त करने का प्रयास उनका अनुभव न रखने वाले व्यक्ति को उनके विषय में विकृत धारणायें प्रदान करता है। इस विषय में बुद्ध का मौन प्रसिद्ध ही है। इस कठिनाई को दूर करने के दो उपाय सम्भव हैं, और दोनों उसका पूर्ण रूपेण निराकरण करने में असफल हैं। एक तो यह कि किसी विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावलि का निर्माण न कर के साधारण बोल चाल की ही भाषा में उन उच्चस्तर की चेतना से सम्बन्धित अनुभवों को व्यक्त करने का प्रयास किया जाये। वैज्ञानिक अध्ययन विधि की दृष्टि से तो यह तरीका अनुचित है ही, किन्तु काम चलाने की दृष्टि से भी सम्भ्रम-कारक (Confusing) है। उदाहरणार्थ एक शब्द साधारण बोल चाल का 'हल्कापन' है, जिसे चित्त की स्थिति का वर्णन करने में इस्तेमाल किया जाता है, किन्तु प्रारम्भिक स्थितियों में जिस मनोदशा को व्यक्त करने के लिये यह शब्द प्रयोग किया जाता है, और बाद की स्थितियों में यह शब्द जिस मनःस्थिति का द्योतक है, उनमें केवल

परिणाम ही नहीं गुण की दृष्टि से भी बहुत अधिक अन्तर होता है। जिसने उन मन:स्थितियों का अनुभव स्वयं प्राप्त न किया हो, उसे यह साधारण बोलचाल का शब्द सम्भ्रम में ही डालता है, यद्यपि उन मनोदशाओं का अनुभव प्राप्त होने पर उसे स्वयं भी यही शब्द उन दशाओं का वर्णन करने के लिये सब से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में यह शब्द साधारण बोल चाल का होते हुये भी इस विशिष्ट संदर्भ में परिभाषिक बन गया है, लगभग संगीत के 'मिठास' की तरह। बहरहाल चेतना के एक विशेष स्तर पर प्राप्त अनुभव किसी अन्य स्तर के अनुभव की पारिभाषिक शब्दावली में व्यक्त करने से सम्भ्रम ही उत्पन्न करता है। दूसरा उपाय यह है कि प्रत्येक सम्पन्न विज्ञान की भांति अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या के पास भी अपनी विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावलि (Technical Terminology) हो। आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान के इतिहास में एक समय यह बड़े विवाद का प्रश्न रहा है कि उसकी अपनी अलग पारिभाषिक शब्दावलि हो, या भौतिक शास्त्र (Physics) और शारीरिक-क्रिया-शास्त्र (Physiology) की पारिभाषिक शब्दावलि का प्रयोग उसके क्षेत्र की घटनाओं को भी व्यक्त करने के लिये पर्याप्त है। कुछ और पहले स्वयं जीव-विज्ञान Biology) में भी इसी प्रकार का विवाद था। अन्ततः सब विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध की अनिवार्यता स्वीकार करते हुये भी किसी न किसी सीमा तक प्रत्येक विज्ञान की अपनी अलग पारिभाषिक शब्दावलि का सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ। अध्यात्म शास्त्र और ब्रह्म विद्या की भी अपनी विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावलि है, किन्तु इस विद्या का क्रियात्मक अध्ययन (Experimental study) सम्मानित वैज्ञानिक स्तर पर अप्रचलित होजाने के परिणामस्वरूप उसकी पारिभाषिक शब्दावलि भी दुर्बोध और रहस्यात्मक बन गई है। उदाहरणार्थ 'समाधि' को ही ले लिया जाये। इस शब्द के जाने कितने विवेचन, जाने कितनी व्याख्यायें विद्वानों के बौद्धिक व्यायाम के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं, यद्यपि चेतना की जिस स्थिति को यह शब्द व्यक्त करता है, उसका कोई अन्दाज उन व्याख्याओं और विवेचनों द्वारा प्राप्त नहीं होता। किसी क्रियात्मक और प्रयोगात्मक विषय के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ तो प्रयोगात्मक विधि का

अनुसरण करने पर ही स्पष्ट हो सकता है। अंधेरे कमरे में बैठकर दीपक की चर्चा करते रहनेसे दीपक का प्रकाश कैसा होताहै, इसका अन्दाज नहीं हो सकता और यदि चर्चा करने वाले लोग जन्मान्ध हों, तब तो फिर कहना ही क्या! किन्तु यदि ऐसे जन्मान्धों की जमात में एकाध आंखों वाला जा फंसे, तब तो उसका पागल होना ध्रुव-सत्य प्रमाणित हो जायेगा, विशेषतः यदि उन सीधे सच्चे जन्मान्धों को अपनी काबिलियत पर किसी तरह का सन्देह करने का कोई कारण ज्ञात न हो। साराँश यह कि अनुभव की अभिव्यक्ति के विषय में कठिनाई अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या की दुर्बोधता और रहस्यात्मकता का एक मुख्य कारण है, जिसको दूर करने का एक ही उपाय है कि कुशाग्र बुद्धि और सच्चे सदाशयी वैज्ञानिक खुले मस्तिष्क से सच्चे विद्यार्थी के रूप में इस विषय का क्रियात्मक और प्रयोगात्मक अध्ययन प्रारम्भ करें।

इन कठिनाइयों को अध्ययन-विषयक सावधानियाँ निर्धारित करने में सहायक बनाना चाहिये। कठिनाइयां गिनाने का उद्देश्य यात्रा की दुर्गमता और विषय की दुर्बोधता का भय प्रदर्शित करना कदापि नहीं, क्योंकि दुर्गमता और दुर्बोधता तो साहस को चुनौती ही देती है, जिसे स्वीकार किया जाना ही शौर्य है।

अब एक प्रश्न यह पैदा होता है कि अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या विषयक यात्रा में किस बात के निरीक्षण पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यों तो इस लेख के प्रारम्भ में ही हम देख चुके हैं कि अभ्यासी अपनी वैयक्तिक अभिरुचि के अनुसार घटनाओं का चयनात्मक निरीक्षण (Selective observation) करता है और अपनी वैयक्तिक क्षमता के अनुसार उनका संश्लिष्ट विवरण (organised account) प्रस्तुत करता है; किन्तु वास्तविक आध्यात्मिक और ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी यात्रा की प्रगति का सर्व सामान्य (Most general) पैमाना बस यही है कि अभ्यासी का व्यक्तित्व उत्तरोत्तर सम्पूर्ण प्रकृति की मूल व्यवस्था के साथ एकरूप होता चला जाये। इसी बात को इस विद्या के श्रेष्ठतम आचार्यों ने बार बार विभिन्न पारिभाषिक शब्दावलि का प्रयोग करके दुहराया है।

बुद्ध का सम्यक-स्वरूप, गीता की युक्त अवस्था और सूफियों की एतदाली कैफियत और हम-आहन्गी की हालत सभी का अभिप्राय लगभग एक ही है। प्रकृति की मूल व्यवस्था के साथ एकरूपता में वृद्धि के साथ वही सब बातें व्यक्ति में भी विकसित होती जाती हैं, जो प्रकृति की व्यवस्था में हैं, उदाहरणार्थ एकरसता, समुचित नियमबद्धता, अक्षुण्ण शक्ति, सहजता, व्यापक उद्देश्यपूर्णता, रागद्वैष-शून्य क्रियाशीलता, स्वार्थपूर्ण प्रेरणा का अभाव आदि। सम्पूर्ण प्रकृति की मूल व्यवस्था के उस विशिष्ट विन्दु पर (जहां कि एक व्यक्ति स्थित है) जो कुछ भी सम्भावनायें हैं, वह साधना की प्रगति के साथ उत्तरोत्तर विकसित होती जाती हैं। साधक को इस विकास का अनुभव अनेक प्रकार से होता है: शारीरिक स्फूर्ति और स्निग्धता, व्यवहार-कुशलता, इन्द्रियों की अपने स्वाभाविक विषयों में उचित किन्तु अनासक्त प्रवृत्ति, भावनाओं और आवेगों की उदात्तता, शुद्धता और उपयुक्त क्रिया, वाणी की समरसता, मधुरता और प्रभावोत्पादकता, बुद्धि की प्रयासहीन स्वच्छता, इच्छा-शक्ति की निष्कम्प और सूक्ष्म अजेयता, चरम-लक्ष्य-प्राप्ति की आकुलता आदि में निरन्तर वृद्धि होती जाती है। संक्षेप में हर चीज का दिव्यरूप विकसित होता जाता है। कभी कभी अनुपम शक्तियों और सिद्धियों का भी अनुभव होता है, जो उपर्युक्त बातों के अन्तर्गत ही आजाती हैं, उदाहरणार्थ दूसरे के विचारों को जान लेने की सिद्धि बुद्धि की प्रयासहीन स्वच्छता के ही अन्तर्गत है, और शाप अथवा आशीर्वाद की शक्ति इच्छा की अजेयता के अन्तर्गत। यात्रा की प्रगति का एक मुख्य लक्षण यह है कि साधक में जिस बात की अनुचित कमी हो, उसमें वृद्धि होती जाये, और जिस बात की अनुचित अधिकता हो, उसमें कमी होती जाये: समत्व और संतुलन ही योग का चरम लक्ष्य है। यात्रा की प्रगति के साथ साथ अभ्यासी में वास्तविक मानवता निखरती जाती है, वह स्वयं अपना स्वामी बनता जाता है, और प्रकृति की समस्त शक्तियां धीरे धीरे उसकी दासता स्वीकार करती जाती हैं: भारतीय दर्शन का साधना पक्ष अन्तिम वास्तविकता का सुसंबद्ध शास्त्र तो है ही साथ ही मानव की अनन्त महिमा का महाकाव्य भी है। मानव की अनन्तता को सीमित करने वाली ग्रान्थियां जैसे जैसे खुलती

जाती हैं, वैसे वैसे उसके अनन्त मुक्त स्वरूप की दिव्य ज्योतिर्मयी दशायें विकसित होती जाती हैं।

निषेधात्मक शब्दों में इसी यात्रा का विवरण अविद्यामूलक भ्रान्तियों के क्षय के क्रमिक विकास के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। स्थूलरूप में जिसको हम अपना स्वरूप या जगत् का वास्तविक स्वरूप समझते हैं, वह मिटता जाता है, और उत्तरोत्तर एक नये सूक्ष्मतर स्तर की चेतना विकसित होती जाती है। अविद्या मूलक भ्रान्तियों को पार करने पर भी अहंता की चेतना शेष रह जाती है, जिसके दूर होने पर अन्तिम असलियत के केन्द्र में प्रवेश होता है, यद्यपि केन्द्र जो एक विन्दु के रूप में प्रतीत होता है, एक क्षेत्र होता है, जिस में फिर भी केन्द्र की खोज जारी रहती है। इस यात्रा में तो सभी कुछ लुटता जाता है, यहां तक कि ज्ञान और भक्ति और साधना आदि भी छूट जाते हैं, जैसे कि एक नदी पार करने के बाद नाव नदी में ही छूट जाती है।

स्नायु मण्डल (Nervous system) और तत्सम्बन्धी चेतना को ध्यान में रखते हुये भी यात्रा का विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है। स्वायत्त स्नायु संस्थान (Autonomic Nervous system) की विशिष्ट स्नायु-ग्रन्थियों को जाग्रत अवस्था में लाकर उनसे सम्बन्धित चेतना की स्थितियों और असाधारण शक्तियों की प्राप्ति के बाद मस्तिष्क के विभिन्न स्नायु केन्द्रों और ग्रन्थियों का विकास प्रारम्भ होता है, जो प्रधानतः बौद्धिक विकास से सम्बन्धित है। इसके बाद भी वास्तविकता के मूल केन्द्रीय रूप का विकास आता है। वास्तव में स्नायु मण्डल के विकास की सम्भावनायें अनन्त हैं। निम्नतर पशु से लेकर मनुष्य तक स्नायु मण्डल का विकास स्वयं ही एक रोचक कहानी है, और स्वयं साधारण मनुष्य में स्नायु मण्डल के लगभग ५, ६ प्रतिशत केन्द्रों की ही निश्चित क्रिया का पता आधुनिक शरीर-क्रिया-शास्त्रियों को है।

अन्त में योग की विकृतियों की ओर से सावधान रहना नितान्त आवश्यक है। अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या-विषयक यात्रा की प्रत्येक दिव्य स्थिति से मिलती जुलती मानसिक विकृतियाँ हैं, जिन के आत्म-प्रवंचक

शिकार हमारे देश में इतनी अधिक संख्या में हैं, कि उन्हें देखकर स्वयं अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या सदाशयी वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से उपेक्षा का विषय बन गयी है। सच्ची स्थिति और उसकी विकृति में अन्तर बस इतना ही है कि साधक के व्यक्तित्व पर सच्ची स्थितियों का सदैव संवर्धनात्मक प्रभाव (Incremental Effect) होता है, जबकि विकृतियों का प्रभाव हमेशा ह्रासात्मक (Decremental) होता है। वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से इस विषय में सदैव सतर्क रहना उचित है, अतः जब तक इस विद्या के योग्य गुरु की प्राप्ति न हो, तब तक इसके प्रति अन्धी आस्तिकता पर नास्तिकता को ही प्रधानता प्रदान करना उचित है, यद्यपि साथ ही अन्धी नास्तिकता की अपेक्षा अन्धी आस्तिकता ही श्रेष्ठ है।

—सम्पादक

(अध्यात्म शीर्षक स्थायी लेख अगले अँक में आयेगा)

सहज मार्ग की शिक्षा पद्धति

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

पिछले अंक का शेषांक

भाई, यही अखलाक है, कहाँ तक कहा जावे इसी के लिये हमेशा प्रयत्नशील रहना चाहिये और चीज असल है। आपकी जो शक्ति दी जाती है इस चीज को सुधारने के लिये दीजाती है। यह शक्ति उस समय ज्यादा असर करती है जबकि उस शक्ति ने पूर्णरूप से प्रकृति के साथ हम-आहंगी (समरूपता) प्राप्त करली हो। जितनी अधिक समरूपता शिक्षक ने उससे पैदा करली है उतनी ही अधिक सफलता उसे दृष्टिगोचर होगी। और श्रीमान, यह वह शक्ति है जो बिना अपना असर दिखाये रह नहीं सकती। धुआँधार तवज्जह (शक्तिपात) से कमी अखलाक सँभल नहीं सकता। यह दूसरी बात है कि प्रकृति स्वयं उसको इस काम में मदद दे और अपना जैसा बना कर धीरे धीरे बहुत दिनों के बाद ले आवे। मैंने हमेशा तवज्जह, जब से मेरी आँखें खुली हैं, ऐसी ही दी है, और यही सूक्ष्म बिन्दु असलियत का हमेशा सामने रहा। यही कोशिश है कि आप सब लोग इसी हालत पर पहुँचे, ईश्वर मदद करे।

अछूता मजमून है! अफसोस किसी की आँख आज तक खुली ही नहीं। कितनी सरल चीज को कितना मुश्किल करके दिखाया है। सचमुच लोगों ने तालीम में कितनी गलतियाँ की हैं। जो शिक्षक बना उसने किसी न किसी रूप में कुछ न कुछ ठोसता के साथ ही तालीम की। यदि महत्व और भारीपन शिक्षक के खयाल में किसी रूप में शामिल हो गया, तो उसने वह ठोसता बिल्कुल अभ्यासी के दिल में उतार दी। असर क्या हुआ, कि इसका दूर करना मुश्किल हो गया।

बच्चा जब ऐब करता है तो बाप उसको सजा देता है और झिड़कियां भी। किसलिये, कि उसका यह ऐब जो अभी उत्पन्न हुआ है दूर हो जावे (इसकी जड़ इससे पहले न थी।) अब इस झिड़की से असर यह होता है कि जिस जोर शोर से बच्चे ने ऐब शुरू किया है उतने ही जोर शोर से उसको झिड़की मिलती है, नतीजा यह होता है कि जैसे कपड़े पर मिट्टी लिपट गई हो और उसमें हाथ मारने से वह झड़ जाती है और कपड़ा साफ हो जाता है, यहां तक कि उसमें

निशान तक बाकी नहीं रहता। यह बात अगर दुनियांदारी में न बरती जावे तो उसका नतीजा यह हो कि वह चीज जड़ पकड़ लेवे और उसको इसी कार्य का अभ्यस्त बना दे। किन्तु भाई, यदि किसी बच्चे ने दैवयोग से यह झिड़कियां सहन न कीं और अपनी उस हालत को मजबूत (सुदृढ़) कर लिया तो उसका इलाज वही है जो मैं आध्यात्मिकता के शिक्षक के लिये आवश्यक समझ कर लिख चुका हूं। अब अगर वही झिड़कियां ऐसे व्यक्ति पर उसी रूप में दी जावें, जिसने अपने इस ऐब को मजबूत कर लिया है, तो इन झिड़कियों का अन्दाज उसके ऐब पर आवाज के प्रकम्पन (*Viberation*) के द्वारा शक्ति का काम देगा, जिससे हालत और बिगड़ने की संभावना है। कहीं ईश्वर की इच्छा अथवा सौभाग्य उसका साथ दे और उसको यह झलक दिखाई दे जावे कि यह ऐब ऐसा है कि इसको करना बुरी बात है तो उस पर बहुत कुछ असर पड़ेगा। किन्तु श्रीमान ऐसा प्रभाव हमेशा उसकी हल्की हालत से होगा जो इसकी जड़ उखाड़ने में मदद देती है। नतीजा क्या निकला ? वही सरलता, वही हल्कापन वही स्थिरता (Calmness) जिससे आदमी खुद बनता है, दूसरों को भी उससे बना सकता है। जितनी उसमें कमी है उतनी ही जिस व्यक्ति को वह बनायगा उसमें कमी रहेगी। यह और बात है कि सर्वशक्तिमान प्रकृति को उमड़ कर कहीं रहम आ जावे और वह अपनी कृपा से अपनी धार उस ओर फेर दे और इस प्रकार पापात्मा संभल जावे।

यह सब बातें सम्पूर्ण अभ्यास का निचोड़ है, जो आपको प्राप्त करना है। अखलाक एक बहुत व्यापक वस्तु है जिसमें हर प्रकार की अकृत्रिमता शामिल है और इसके दायरे में प्रत्येक एनदाली कैफियत (सम अवस्था) आती है, जो सृष्टि के आरम्भ में थी। अब एक बात मैं अवश्य लिखूंगा जिसके करने से अखलाकी हालत दूसरों पर झलकने लगेगी और हम सबको फायदा होगा। बातचीत का तरीका निहायत मुलायम, बिना उतार-चढ़ाव के होना चाहिये। उसकी शक्ल बहती हुई होना चाहिये अर्थात् जैसी कि प्रकृति की धार बह रही है वही ढंग होना चाहिये अर्थात् एकसार। इससे शब्दों को जीवन मिलता है इसलिये कि उनका बहाव जब प्रकृति की धार से मिल जुल जाता है या दूसरे शब्दों में उससे (हम-आहन्ग) समरूप हो जाता है तो उसमें ताकत पैदा होती है और भाषण में असर पैदा हो जाता है। जिन

महानुभावों को हमारे गुरूमहाराज के सम्पर्क का सौभाग्य मिला उनको यह बात आपने इन्तहाई दर्जे पर मिली होगी। हर बात का नतीजा यह निकला है कि हमको अपनी ऐसी ही हालत बनाना चाहिये जिस हालत को लेकर सृष्टि के आदि में हम आये हैं। और जब यह बात सिद्ध हो जावे तो इसके आगे वह गुत्थी सुलझाना चाहिये जो हमारे आने का कारण बनी है अर्थात् यह हालत जो आने का कारण हुई है और इसके बाद वाली हालत जो फना (लय) का कारण होगी प्राप्त करना चाहिये।

यह फनाइमत (लय अवस्था) जो मेरा यह लेख व्यक्त करता है, यही असल है और इसी ओर हम सबको आना है। यह लय अवस्था ऐसी है कि इसके आगे बका (स्थिर दशा) ही बचा है। कोई परदा उसके बाद बीच में पड़ा नहीं रह जाता। किन्तु यह अन्त नहीं है। ईश्वर जाने कितना हमको और जाना है और वहाँ पहुँच कर न मालूम कितनी तैराकी और करना है इसकी कोई सीमा नहीं, और न अपने हाथ में है। अपना हाथ इससे पहले खतम हो चुका और सचमुच हाथ हाथ ही नहीं रहा। अब उड़ान समाप्त हो चुकी, पर झड़ गये और सचमुच हमने अपने आपको उसे समर्पित कर दिया। अब केवल उस समुद्र में मिल जाना शेष रह जाता है। और यह धीरे धीरे उस तड़प के असर से, जिसको मैं बराबर पहले लिख चुका हूँ, होता है, यद्यपि बेचैनी और तड़प इस हालत पर पहुंचते ही समाप्त हो जाती है। किन्तु जो अभ्यास कि हमने किया है, उसका असर हमको तैराकी में मदद देता है। उद्देश्य सिद्ध हो गया, सरलता पहले ही प्राप्त हो गई। तैराकी भी अनततः गन्तव्य है और यह समाप्त नहीं हुई—कोई सीमा नहीं कि कहाँ तक जाना है। भाई इस हालत से पहले सरलता की हालत मालिक की और समीपता का अनुमान कराती है, और यह तैराकी इस बात का एहसास दिलाती है कि अब हमको उस अगाध और तट हीन समुद्र में जो एक असीम अक्षुण्ण और अनथक चीज है उसमें अपने आपको पेवस्त) प्रविष्ट) कर देना है, यह पेवस्तगी बराबर जारी रहती है। सचमुच यह असलियत है। किन्तु, उसमें समा जाना बाकी रह जाता है और इसमें भी स्थितियों (Stages) का अन्त नहीं होता किन्तु यहाँ की स्थितियां इसके पहले वाली स्थितियों से बिल्कुल भिन्न होती है। यहां फना और बका का

गुजर नहीं। यहां पर आदमी बेअख्तियार (विवश) पुकार उठता है कि "बस जो है सो है।" मुक्त आत्मायें अगणित हैं किन्तु उनकी तैराकी इस महा समुद्र में हो रही है। जो जितना ही अधिक भीतर पैठ सका उतना ही उसके दरजे का अनुमान होता है। भाई, मेरी यह तीव्र इच्छा है कि आप सब लोग इस हालत को प्राप्त करें। सच पूछो तो मैंने इस समय ऐसी बातें खोल कर रख दी है जो शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं होती। जो इस हालत को पहुँचे वह इसका दृश्य देखे और भाई देखे क्या दृश्य शब्द तो इसके पहले ही खतम हो चुकता है। क्या आप महानुभावों में से कोई ऐसी हिम्मतर खते हैं कि यह हालत आपको जिन्दगी में ही नसीब हो जावे। यह हालत हमारे गुरू महाराज को अपने नई तरीका और अन्वेषण से नसीब हुई थी जो दूसरों को शरीर छोड़ने के बाद नसीब होती है।

यह तरीका आज तक सिवाय हमारे गुरू महाराज के किसी ने ईजाद (अन्वेषित) नहीं किया, और न हो सका। भाई, आप लोगों की भलाई के लिये हमारे गुरू महाराज ने क्या क्या नहीं किया? जहां तक आप कर सके सब खोल कर रख दिया, किन्तु इस अमूल्य वस्तु की कीमत कौन अदा कर सकता है—वही जो अपने इरादे को इतना दृढ़ बना ले और जात (असल) से हम आहन्गी अख्तियार कर लें। ईश्वर वह समय लाये कि आप सबको यह बात इस जिन्दगी में ही प्राप्त हो जावे और विश्वास कीजिये कि यह बात कोई मुश्किल चीज नहीं है, इससे आसान कोई चीज दुनियां में ईजाद ही नहीं हुई और न हो सकती है केवल देखने में यह चीज बहुत मुश्किल मालूम होती है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, बस थोड़ा सा अपने आपको उस ओर मोड़ देने की जरूरत है। हमेशा, यदि किसी चीज को आप देखना चाहें तो उस तरफ सब से पहले आपको निगाह करना होगी और फिर उस तरफ खिंच जाना होगा। खिंचने के बाद सिवा तैराकी जितनी भी आप कर सकें, और कोई चीज करने को शेष नहीं रह जाती। क्या अजब है कि आपको तालीम करना पड़े और न जाने कितने ऐसे लोग मेरे सौभाग्य से बन जावें जिनको यही काम करना पड़े इसलिये बहुत सी बातें इस खत में मैंने आपके समझने और जानने और अमल करने के लिये लिख दीं।

(समाप्त) —एक शिक्षक को लिखा गया पत्र

अनन्त यात्रा

[इस स्थायी स्तम्भ का उद्देश्य साधकों की आध्यात्मिक प्रगति का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करके ब्रह्म-विद्या सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सुलभ करना है। एतदर्थ श्रद्धेय 'बाबू जी' के साथ एक श्रेष्ठ एवं संवेदनशील अभ्यासी के पत्र-व्यवहार का क्रमशः प्रकाशन किया जा रहा है। पत्रों के केवल वही अंश प्रकाशित किये जारहे हैं, जो आध्यात्मिक स्थितियों के अनुभव से सम्बन्धित हैं। अभ्यासी का नाम आदि व्यक्तिगत बातें प्रकाशित नहीं की जा रही हैं।

—सम्पादक]

(क्रमागत)

(पत्र संख्या ४७)

श्री बाबू जी का उत्तर

प्रिय.....खुश रहो।

तुम्हारा पत्र आया था उसका जवाब .....के पते से भेज चुका हूँ। अब तुम्हारा दूसरा पत्र तारीख २६ का लिखा हुआ मिला। तुमने जो कुछ लिखा है कि "मन तो "मालिक" की याद से बिल्कुल घायल हो गया है; परन्तु मैं तो यह कहूँगा कि इन घावों को पालने में है कोई अजीब मस्ती, परन्तु यह घाव बहुत ही छुपे और गहरे होते हैं जिनका उभार ऊपर नहीं आने पाता।" यह बात तुमने बड़ी सही लिखी है। अगर कोई तरकीब तुम्हारी समझ में आ जावे कि छिपा हुआ घाव ऐसा उभर आवे कि अभ्यासी को प्रतीत होने लगे तो जरूर लिखना।

असल बात तो यह है कि शौक कम होने की वजह से उन्हें यह महसूस नहीं होता। अब शौक कैसे पैदा हो? इसकी तरकीब मैं बताता हूं अगर कोई करना चाहे। मैं जो तबज्जह देता हूँ वह बिल्कुल

खालिस होती है। उसमें न उभार होता है और न माया का लेशमात्र लगाव। वह ऐसी चीज है कि उसमें सिवाय शान्ति और हल्केपन के कोई चीज अनुभव नहीं होती, न प्रेम, न भक्ति। जो ईश्वरीय-हालत है, ठीकमठीक वही आती है और जितना काम यह बना सकती है और दूसरी तवज्जह नहीं बना सकती। मैं इस किस्म की तवज्जह देने में इसलिये मजबूर हूं कि मेरे 'मालिक' ने मुझको इसी हालत में बिल्कुल लय कर दिया है। ऐसे लोग मौजूद हैं जिनकी तवज्जह से अभ्यासी को जोर प्रतीत होता है और वे उस चीज को अच्छा समझते हैं इसलिये कि खालिस चीज जो वाकई चीज है उनको एहसास नहीं होती। मेरी हालत जैसी कुछ भी है, इसको देखकर मुझको हर शख्स इतना Judge नहीं कर सकता जितना कि मेरे 'मालिक' ने वाकई मुझे बनाया है और लोग इस वजह से अक्सर धोखा खाते हैं। अब इसका मेरे पास क्या इलाज है कि लोग हलुवा खिलाने से खुश न हों और चने चबाने से खुश हों।

तुमने जो भी हालत लिखी है ईश्वर की कृपा से अच्छी है। हृदय-चक्र की सैर बहुत अच्छी और काफी हो चुकी है। मैं इसको स्पष्ट रूप से और देखना चाहता हूँ अभी इस चीज को और बढ़ाने का जी चाहता है ताकि कोई कैफियत ऐसी न रह जाये जो पूरी तौर से न खुल जाये। सबको दुआ कहना।

तुम्हारा शुभचिन्तक
"रामचन्द्र"

(पत्र संख्या ४८)

परम पूज्य एवं श्रद्धेय "श्री बाबू जी"
सादर प्रणाम।

कृपा-पत्र आपके दो मिले, एक जो पूज्य.....के पते से भेजा था। अब तो यह दशा है कि यह पता नहीं रहता कि रात में सोया था या नहीं। सोकर उठने पर यह नहीं मालूम पड़ता है कि मैं सोकर उठा हूं। अब तो यह भी पता नहीं रहता कि कब दिन बीत

गया और कब रात आई और बीत गई। कुछ यह भी हो गया है कि कभी कभी हर चीज से बिल्कुल एका सा लगता है। Sitting लेते २ यह भूल जाता हूं कि Sitting ले रहा हूँ। कभी कभी सोते से एकदम हड़बड़ा कर उठ बैठता हूं कि बहुत देर हो गई परन्तु आँख खोलने पर देखता हूं कि कुछ देर नहीं होती। मैंने जो शरीर की रेंगन के बारे में लिखा था वह गुदगुदी सी पैदा करती थी परन्तु अब तो वह बात नहीं के बराबर है। बस दिन में एक आध बार कभी माथे व कभी नाभि के पास मालूम पड़ती है।

'आपके' पत्र में यह पढ़ कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि हमारे यहां कोई रुकता नहीं। अब तो यही आशा हो गई है कि 'मालिक' की अहैतुकी कृपा से आगे बढ़ता जाऊँगा। आप सा सहायक पाकर भला मैं क्योंकर रुक सकता हूँ। मैं तो कोटि कोटि धन्यवाद अपने समर्थ लाला जी साहब (आपके गुरू महाराज जी) की देता हूं कि जिन्होंने कृपा कर हम ऐसे दीन सांसारिक प्राणी को आप जैसा मालिक दिया जिसकी कृपा से हम इस अथाह भव-सागर को बिना परिश्रम के पार कर जायेंगे। जो उपमा आपके गुरू महाराज के लिये दी जाती है वही आपके लिये भी उचित है कि:—

'इन सम ये उपमा उर आनी, कबि-कुल अगम करम मन बानी।'

आपका वरद्-हस्त एवं कृपा-दृष्टि साथ रहे जिससे इस गरीब का भी बेड़ा पार हो जायेगा। अब तो मेरे चित्त में कोई ग्लानि नहीं है बल्कि उत्साह है। हाँ, एक कुछ यह हो गया है कि अब अपनी गरीबी की कुछ याद ही नहीं रहती या यों कह लीजिये कि वह मुझसे किनारा सा करने लगी है।

दूसरे पत्र में मैंने जो मन के घायल होने की बात लिखी थी उसका मतलब केवल मेरा यही था कि भला अच्छा भला आदमी घायल क्यों होना चाहिये। पूज्य श्री बाबू जी मिशन तो आपका अवश्य और शीघ्र उन्नति करेगा। यह तो हमारा दोष है कि हम अपने शौक की कमी के कारण उस हलुवे की मिठास को नहीं पहि-

चानते कि जो आपकी Sitting द्वारा हमें मिलती है। अब तो देखने पर मैं यही कहूंगा कि उस उभार से यह धीमी आग लाख दरजे भली है। दूसरे मैं बचपन से ही मिठाई का बहुत शौकीन भी हूँ। मुझे तो आपकी Sitting जिसमें कि वास्तव में शान्ति व हल्कापन कूट कूट कर भरा है बहुत आराम देती है। मेरी तो यही प्रार्थना है कि मुझे तो जैसे ले जाना चाहते हैं वैसे ही ले चलिये। जो चीज आप बढ़ाना चाहते हैं सो बढ़ा दीजिये केवल बस चने न चबवाइयेगा क्यों कि मेरे दाँत भी बहुत कमजोर हैं। आपकी दीन, हीन संतान

(पत्र संख्या ४६)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्री बाबू जी,

सादर प्रणाम।

मेरा एक पत्र 'आपको' मिला होगा। मेरी दशा तो यह है कि इसका तो अब केवल एक ख्याल ही रह गया है कि सब काम 'मालिक' ही कर रहे हैं और अब इस ख्याल का भी बार बार ख्याल करना पड़ता है। तबियत में बड़ा हल्कापन और मुलायमपन रहता है। कुछ यह हो गया है कि जब कहीं जाता हूं और कोई 'बाबू जी' का नाम लेता है तो न जाने क्या हो जाता है कि एकदम ऐसा मालुम होता है कि मेरे सारे शरीर से तमाम पवित्रता निकल कर फैल रही है। इधर तीन, चार दिनों से तबियत में रूखापन बढ़ गया है। यद्यपि पहले यह कभी कभी होता था परन्तु अब तो दिन भर की यही दशा हो गई है। मैंने किसी पत्र में 'आपको' लिखा था कि 'यह याद नहीं रहती कि मुझे अपने 'मालिक' की याद थी या नहीं', परन्तु अब तो यह हो गया है कि 'उसकी' याद की भी याद नहीं रहती है। जब जब याद करने की याद भूल जाती है तो कभी कभी झुँझलाहट आ जाती है। ध्यान में भी बैठने की दशा में कोई विशेष अन्तर नहीं दीखता है। इसलिए कभी कभी तो तबियत यह चाहती है कि क्या करूं ध्यान में बैठ कर। परन्तु आदत के अनुसार जो और जितनी भी पूजा करता आया हूं उतनी ही बल्कि उससे अधिक ही प्रयत्न रहता है और करता रहूंगा। विशेष दशा तो यही है कि तबियत बिल्कुल रूखी हो गई है।

आपकी दीन, हीन संतान

(क्रमशः) .....

"सुख तो है लेकिन चैन नहीं"

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

अचानक वीणा के तार झनझना उठे। उसके वीणा-वादन में बड़ा ही आकर्षण था। उस वीणा के स्वरलाप की मोहनी रागिनी जिसके ही कानों में पड़ती है वही विभोर हो उठता।

और ?

और उसके वादन करने वाले के दर्शन कर सबके मन-मयूर नाच उठते। उन उँगलियों में वह जादू था जो वीणा के तारों पर पड़ते ही मानों मोहनी-मंत्र फूँक देतीं।

वह भी चली आरही थी।

"भुवन ! सुन तो कितना सुमधुर वीणा-वादन है। भइया कान लगा कि यह ध्वनि किधर से आरही है ? रुका नहीं जारहा है'। ऐसा लगता है कि मन बरबस खिंचता चला जाता है।"

"माँ, होगा ! हमें क्या ! वीणा बजती है तो बजने दे। तार झनझनाते हैं, कानों में पड़ते हैं तो पड़ने दे। गरीबों को किसी सुमधुर आलाप से क्या मतलब ? हमारा संसार सीमित है। उससे आगे हमें डग नहीं बढ़ाना चाहिये। मन की डोर खींच ले माँ ! उधर न जाने दे। नहीं तो केवल दुःख ही दुःख हाथ लगेगा माँ ! वहां के प्रकाश से हमारी आँखें चकाचौंध हो जावेंगी, हमें दिखाई भी न पड़ेगा। फिर कैसे चलेंगे ? माँ वहाँ न चलें। रहने दे।"

"जरा सा सुन ही लेंगे तो क्या होगा, भइया ? भला फिर हमें यह ध्वनि कहाँ सुनने को मिलेगी ?"

"एक बार सुन ही लेगी तो क्या ? मन पुनः पुनः वही ध्वनि सुनने का आग्रह करेगा तो कैसे समझायेगी ? इसलिये पहले ही क्यों

न सावधान हो जा, माँ ! एक बार रस-पान कर फिर सूखा अन्न किसे रुचिकर हो सकता है ? वर्षा के बाद ताप असहनीय सा हो जाता है, पहले नहीं । मिठाई मिर्च खाने से पहले ही सुस्वाद लगती है। सोच ले, समझ ले माँ । फिर जैसी तेरी इच्छा हो ।"

किन्तु माता का मन न माना क्यों कि वह परवस जो हो चुकी थी । उसकी चेतना तो उस मोहनी तक पहुँच कर वहां कुछ खोज रही थी । पग उसी मोहक-ध्वनि का अनुसरण करते करते उसके द्वार तक जा पहुँचे और पीछे पीछे था उसका भुवन ।

एकाएक वह कुछ ठिठकी, किन्तु क्षणिक था उसका ठिठकना । अब वह प्रहरी से अनुमति लेकर जीना चढ़ रही थी । प्रहरी ने भी उसे दीन देख कर अनुमति दे दी क्योंकि उसे आदेश ही ऐसा था ।

दोनों ऊपर पहुँचे ।

अपार वैभव था । विलक्षण सजधज थी । ऐसी चमक कि आँखें चकाचौंध होने लगती थीं ।

आगे बढ़ी । देखा एक विशाल कमरे में एक अद्भुत लावण्य-मयी युवती मुस्करा रही थी । वीणा-वादन समाप्त हो चुका था परन्तु उसकी मधुर मुस्कान ने माता के मन को जीत लिया था । और बेचारा भुवन ?

वह तो सब देखता, सुनता था किन्तु उसकी स्मृति मानों सोई सी जारही थी । नेत्रों पर झिलमिल आवरण सा पड़ता जाता था । वह समझ ही नहीं पाता था कि उसे क्या हुआ जा रहा था ।

युवती ! अब भी मन्द मन्द मुस्करा रही थी ।

अचानक एक वीणा-विनिन्दित-स्वर उनके कर्ण-कुहरों में पड़ा । तब नींद से जागने की भाँति चौंक कर उन्हों ने उसकी ओर देखा, तो देखते ही रह गये । धीरे धीरे वे जागे किन्तु अपने संसार में नहीं, युवत के संसार में ।

युवती कह रही थी । "माई, क्या है, क्यों कष्ट किया ? और यह तेरा बेटा ?"

"हाँ यह मेरा बेटा, इकलौता लाल ।".....

"देख भुवन ! मैंने कहा था न कि वहाँ आनन्द ही आनन्द बरसेगा । दरिद्रता दूर हो जायेगी । कितनी अच्छी है भोली सी यह बिटिया मेरी "। कहते २ माता के हृदय में मानों वात्सल्य जाग उठा ।

भुवन मुस्करा रहा था और बिटिया भी मुस्करा रही थी ।

किन्तु दोनों मुस्कानों में अन्तर था । एक की मुस्कान हार-मिश्रित थी और दूसरी विजय-भरी ।

"माई ! तुम अब दरिद्र नहीं और न तुम्हारा लाल । अब जो मेरा वैभव है वही तुम्हारा और भुवन का । तुमने मुझे अपनाया है फिर तुम दुःखी कैसे रह सकती हो, माई ।"

भुवन बुदबुदाया, "दुखी तब नहीं थी, अकिंचन तब नहीं थी, माँ ! अब हुई ।" किन्तु उसके शब्द मानों उसी के मुख में रह गये । उन्हें किसी ने न सुना । हाँ युवती उसे देख कर मुस्करा दी । उसकी जीत जो हुई थी ।

अब उनका संसार नया था । माता पुत्र ठाठ से रहते । मखमली गद्दे, तोशक व तकिये उनका बिछौना था । अनेकों दास, दासियाँ उनके इशारे पर नाचने वाले थे । युवती तो माई को वैभव सौंप कर मानों निश्चिन्त हो गई थी ।

और माई ? प्रायः अचेतन सी उसमें लिप्त हो गई ।

और भुवन ? वह बहुधा अनमना सा दीखता तो माँ उसे भाँति भांति के ऐश्वर्य से बहलाया करती । अब उसे चिन्ता थी तो केवल एक बात की कि उसका भुवन अब बड़ा हो गया था और शिक्षित, सुन्दर युवक । युवती भी माई से अकेले में बैठ कर भुवनदा को एक नन्हीं, मुन्नी दूध के फेन सी सुकोमल युवती के आँचल से बाँधने का हठ करती । न जाने क्यों वह डरती थी तो भुवन दा से !

और भुवन निडर था तो केवल चपला बहिन से ! किन्तु यह रहस्य था जिससे माई, दास, दासियों, पास पड़ोस सभी अनभिज्ञ थे । हाँ जानता था तो भुवन का पिता ।

युवती ने दा का परिचय जानना चाहा तो उसने केवल इतना कह कर टाल दिया कि पिता के नेत्रों में बाह्य-नेत्रों के वैभव का महत्व न था, जब कि माता के लिये यह भी महत्व-मय था । सभव

है इसी कारण अचानक एक दिन कैसे उसने माँ को इसे देखने, उस महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिये वीणा के स्वर का अनुसरण कर यहाँ तक पहुंचा दिया। और पिता ? वह स्वयं कुछ न बोला किन्तु पुत्र की वाणी ने मानों उसे ऊँच-नीच सुझाया। किन्तु मां की तो चेतना ही लुप्त हो चुकी थी फिर कैसे समझती ?

और भुवन ? वह माता के निरीक्षण के ही लिये उसका साथ न छोड़ सका। यद्यपि पिता के स्मरण में उसे चैन न था। अनमना सा हो जाता था।

और युवती ? उसका तो स्वामी मानो उसे अपार वैभव की स्वामिनी बना कर अपनी दूसरी पत्नी के साथ निश्चिन्त सा हो गया था। फिर भी अद्भुत था कि दोनों में परस्पर सगी बहनों की तरह अपार स्नेह था और था भी ऐसा ही। डाह या ईर्ष्या का नाम न था, इसलिये मनोमालिन्य न था। आनन्द से दिन बीत रहे थे।

० ० ० ० ०

एक रात्रि मानों वह स्वप्न सा देख रहा था कि एक सौम्य युवती कह रही थी,

"भुवन दा ! क्या मेरे गृह में नहीं आओ गे ? कबसे तुम्हारी बाट जोह रही हुँ ? आओगे न भइया ! अनमने रहते हो फिर भी आते नहीं ?"

"अवश्य आऊँगा। किन्तु करूँ क्या, माँ तो चले। उसे छोड़कर मैं तुझ तक कैसे आऊँ। पूज्य पिता के चरणों में जाना चाहता हूँ।"

"तो भाई ! मार्ग तो इधर से ही जाता है।"

"हां ! उसे समझाऊँगा और कल प्रभात होते होते उसके बन्धन तोड़ दूँगा। वेष बदल दूँगा। बस पिता को प्यारा अकिंचन वेष धारण कर लूंगा और मस्त फकीर की तरह चल दूंगा जिसे न डेरे की चिन्ता है, न चैन का होश। बहिन धैर्य रख"

सुन्दर सुप्रभात आया। भुवन उठा। माँ सामने थी, चरण-स्पर्श किये।

"बेटा तू अनमना सा क्यों रहता है ? क्या तुझे यहां सुख नहीं

लगता ? तुझे देख कर मुझे न जाने क्यों चैन नहीं पड़ता।"

"सुख ? सुख तो अपार हैं मां।" वह गुनगुनाया।

"तेरा मुख देख कर मुझे चैन नहीं पड़ता, बेटा ! तो वहीं चलें जहाँ तुझे आनन्द हो, चैन मिले।"

बस दोनों चल पड़े।

बेटी ने बहुत रोका किन्तु माई न मानी। उसका भुवन अनमना सा था न, फिर वह कैसे मानती। अकिंचन नगरी में आनन्द की बस्ती लाँघते जाते थे। अब सुमधुर वीणा उनका मार्ग न रोक सकती थी।

घर आ गया। पुत्र ने पिता की सम्पत्ति पिता को सौंप दी। पिता मुस्कराये। उनकी जिह्वा माता-पुत्र से एक ही प्रश्न का उत्तर माँग रही थी कि "ऐश्वर्य में चैन मिला या नहीं ?

और माता ? उसकी जिह्वा पर एक ही उत्तर था।

"सुख तो है लेकिन चैन नहीं।"

और भुवन ?

वह तो मानों उन्हीं शब्दों में खोया सा जा रहा था। समस्त जड़ चेतन, समस्त वायु मण्डल इसी एक ध्वनि में बेसुध सा था कि—

"सुख तो है लेकिन चैन नहीं"

[माता से तात्पर्य बुद्धि की चंचलता से है।
भुवन से तात्पर्य आत्मा की चेतावनी से है।
भुवन के पिता से तात्पर्य ईश्वर से है।
वीणा-वादन से तात्पर्य संसार में लुभाने वाली रागिनी से है। और युवती से तात्पर्य है अविद्या-माया तथा भुवन के स्वप्न की सौम्य युवती से तात्पर्य है विद्या-माया।
प्रहरी से तात्पर्य है अविद्या-माया के द्वार पर अचेतन अवस्था।]

"पानी के प्रयोग"

काशीराम अग्रवाल

पानी के गुण कौन जानना चाहेगा ? वही जो चारों तरफ से हर प्रकार के उपचारों से निराश हो चुका है । पानी का इस्तेमाल अधिक होने के कारण प्रकृति ने दुनिया को तीन हिस्से पानी दिया है, इस लिये कि मनुष्य को पानी की आवश्यकता अधिक रहती है । मनुष्य जिसके बिना जीवित नहीं रह सकता वह चीजें प्रकृति ने मुफ्त और अधिक मात्रा में दी है, जैसे पानी, मिट्टी, धूप, हवा । लेकिन मनुष्य मुफ्त प्रकृति की देन से लाभ नहीं उठाता, इसी लिये मानव महा दुखी है और अन्त में निराश होकर प्रकृति की शरण में ही लौटता है या अपने प्राणों को बुरी तरह खो देता है । उन्हें मालूम होना चाहिये कि स्वास्थ्य बढ़िया बनाने के लिये व नये पुराने रोगों से छुटकारा पाने के लिये पानी बहुत गुणकारी सिद्ध हुआ है । पानी स्वास्थावस्था में नित्य प्रयोग में लाया ही जाता है, जैसे पानी पीना, स्नान करना आदि, लेकिन इनरोज के इस्तेमालों में भी लोग गलती करते रहते हैं । प्रात: स्थान के लिये ही लीजिये । बहुत से व्यक्ति तो किसी न किसी प्रकार दो चार लोटे पानी सर पर डालकर स्नान का नाम कर लेते हैं इस प्रकार से शरीर की सफाई अच्छी नहीं होती तथा नाड़ी मंडल पर भर सुन्दर प्रभाव नहीं पड़ता । वह नहीं जानते कि पानी और शरीर का सम्बन्ध कितना घनिष्ठ है । बगैर पानी के मनुष्य जीवित नहीं रह सकता, अगर मनुष्य कुछ दिनों स्नान न करे तो वह स्वस्थ नहीं रह सकता, स्नान न करने से अनेकों रोग पैदा होजायेंगे आलस्य तो आ ही जायेगा शरीर पर मैल की तह जम जायेगी, रोम कूप बन्द होजाने से खाज, खुजली दाद, खून खराबी इत्यादि चर्म रोग होजायेंगे । इस लिये जो कभीरया कम पानी से या गर्मपानी से स्नान करते हैं वह स्वास्थ्य की रक्षा के लिये नित्य ठढे पानी

से शरीर को रगड़ रगड़ कर स्नान अधिक पानी से करें । ठंढे पानी से स्नान करने वाले व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा रहेगा तथा नड़ी-संस्थान एवं आंतें मजबूत होंगी, मस्तक में ताजगी, शरीर में फुर्ती रहेगी । ठंढे पानी से स्नान करने पर पहले ठंढ लगती है इस लिये कि ऊपरी त्वचा का खून ठंड की वजह से अन्दर भाग जाता है, और जब तेजी से अन्दर का खून उपरी खाली जगह को भरने के लिये इधर उधर से आता है तो स्नान के बाद शरीर में गर्मी रहती है । जब गर्म पानी से स्नान करते हैं तो अन्दर का खून उपरी त्वचा पर आजाता है इसलिये स्नान के समय हमें शरीर में गर्मी मालूम होती है और जब अन्दर की खाली जगह को भरने के लिये ऊपर का खून तेजी से अन्दर भाग जाता है तो गर्म पानी से स्नान करने के बाद हमें ठंड लगती है । इस लिये ठंडे पानी से स्नान हर मौसम में करना चाहिये ।

पानी पीने में भी लोग बहुत गलतियाँ किया करते हैं, जैसे कम पानी पीना, गन्दा पानी पीना बहुत देर का धूल आदि पड़ा हुआ पानी पीना । पानी कम पीने से भी कब्ज होजाता है, आसाम में हमारे पड़ोसी लच्छीराम जी को खूनी बवासीर रोग था वह इस रोग के मारे बड़े परेशान थे उस समय मैं आरोग्य मन्दिर गोरखपुर से अपना इलाज कराकर आया था मुझे रोगों के बारे में कुछ मामूली जानकारी भी होगई थी, मैंने उनको खूब पानी पीने को बताया, कुछ दिनों के बाद उन्होंने बताया कि उनका भयंकर रोग पानी अधिक पीने से ही चला गया । पानी दिन भर में २-२॥ सेर अवश्य ही पीना चाहिये, क्योंकि पानी शरीर के अन्दर पहुँचकर खून की गर्मी को शान्त करता है और हमारे शरीर की गन्दगी का बहुत सा हिस्सा बाहर निकालता है, इस लिये पानी खूब पीना चाहिये । लेकिन जो लोग भोजन के साथ पानी पीते हैं वह नुकसानदायक है, पानी भोजन के एक घन्टा पहले या भोजन के घन्टे बाद पानी पीना चाहिये । भोजन के समय प्यास उन लोगों को ही ज्यादा लगती है जो मिर्च, मसाले, चटनी मजेदार चीजें खाते हैं या जिनके पेट में गर्मी अधिक है ।

पानी प्रात:काल खाट से उठते ही एक गिलास अवश्य ही पीना

चाहिये, इसे उषःपान भी कहते हैं जिसकी बड़ी तारीफ लिखी है। उषःपान स्वास्थ्य के लिये एक अच्छी आदत है, और यह अजमाने से पता लग जायेगा कि प्रातःकाल पानी पीने वाला व्यक्ति कब्ज का रोगी नहीं रह सकता। साथ-साथ खान पहरान भी ठीक रखना आवश्यक है।

प्राकृतिक चिकित्सा में पानी का प्रयोग बहुत से रूपों में किया जाता है—जैसे कटि स्नान, उपस्थ स्नान भाप स्नान, गर्म ठंठा स्नान, सारे शरीर की ठडी पट्टी पैरों का गर्म स्नान इत्यादि। सब का अलग अलग विस्तार से विवरण इस छोटे से लेख में नहीं लिखा जा सकमा। फिर भी खास खास बातें जो लोगों पर प्रयोग किया है वह इस ख्याल से लिख रहा हूँ कि लोग अपना जीवन दवाओं के सहारे न चलाये बल्कि प्राकृतिक जीवन व्यतीत कर हमेशा आरोग्य रहें।

आधुनिक विशेषज्ञों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि पानी में रोग निवारण की अद्भुत शक्ति मौजूद है। और मैंने बड़े बड़े अस्पतालों में भी देखा है कि बुखार-सर दर्द आदि की हालतों में पानी का सहारा लेने लगे हैं—और जुलाब आदि न देकर एनिता का प्रयोग करने लगे हैं।

मैंने अपने दो वर्षीय लड़के पर १०६.५ डिगरी बुखार में सारे शरीर को गीली पट्टी का प्रयोग किया हैं ऐसी भयंकर हालत में पानी की ठडी पट्टी देख कर लोग चकित रह गये और वह मेरी बेवकूफी पर हँसने लगे। अगर किसी दूसरे पर ऐसा प्रयोग करता तो आश्चर्य नहीं था कि लोग मुझे पीट बैठते। अपने घर पर रहा था इसलिये मूखता पर हँसने के अलावा कोई चारा न था। यहां तक कि मेरे पूज्य पिता जी मुझ से काफी नाराज हो गये इसलिये कि लड़के के हाथ पांव ठंडे हो गये थे बुखार इतना तेज था कि लड़का आखिरी सांसे ले रहा था बुखार भी १०६.५ डिगरी से कम नहीं हो रहा था। पूज्य पिता जी डाक्टर को बुलाना चाहते थे मैं प्रकृति की शरण लेना चाहता था। मैंने पिता जी की नाराजगी पर भी लड़के को नंगा करके ठंडी गीली चद्दर सारे शरीर पर लपेट दी और ऊपर से एक कम्बल लपेट

दिया—इस प्रकार सारे शरीर की गीली पट्टी से ३-४ डिगरी बुखार कम हो गया दूसरे दिन १०१ डिगरी बुखार था वह ठंडे पानी के स्पंज से जड़ से चला गया।

सारे शरीर की गीली पट्टी का प्रयोग एक पुराने पेशाब रोगी पर भी किया जिसको जलन के साथ पेशाब होता था आश्चर्यजनक लाभ हुआ। सारे शरीर की गीली (ठंडी) पट्टी-खाज-खुजली हर प्रकार के तेज बुखार की हालतो में स्नायु दुर्बलता में नये-पुराने जुकाम की हालतों में शरीर में बढ़ी गर्मी पर यह पट्टी जादू जैसा काम करती है और रोगों को जड़ से खोती है। साथ साथ पुराने रोगों में भोजन सुधार भी आवश्यक होना है।

उपरोक्त पेशाब रोगी को गर्म ठंढे पानी टब स्नान भी महीने भर लगभग दिया गया-पेशाब के रास्ते अन्दर से पथरी के कण भी निकले।

इस रोगी को बीच में उपवास भी कराना पड़ा। उपवास में अचानक दवाओं का उभार बुखार के रूप में आया। बुखार तेज होने के कारण रोगी बेहोश पड़ा था, सब घर वाले घबराये हुये थे उस समय १५ मिनट ठडे पानी का स्पंज किया, उसे स्पंज के बाद होश आ गया बुखार १०४° से १००° पर आगया।

हमारे पड़ोस में एक ७—८ वर्षीय लड़की को दौरा आगया और वह बेहोश पड़ी थी, मुख में झाग भरे थे, डाक्टर को बुलाया गया, वह अपने कामों में आला लगा कर रोगी को देख रहा था घरवाले सब परेशान थे डाक्टर बेचारा नया ही था, वह न समझ सका यह क्या रोग है वह रोग को जानना चाहता था उधर लड़की की हालत बिगड़ती जा रही थी, मुझे डाक्टर साहेब पर आश्चर्य हो रहा था कि वह अभी तक रोग का नाम न रख पाये। साधारण व्यक्ति भी जान सकता है। दौरा दिल का रोग है, खून की गति में गड़बड़ी होजाने का नाम दौरा है। डाक्टर साहेब एक व्यक्ति को अपनी दुकान पर दवा देने के लिये ले गये, तब तक मैं रोगी के मुख पर तथा सरपर ठंडा पानी बराबर ५ मिनट तक डालता रहा मुख पर ठंडे पानी के छींटे भी देता रहा कुछ

देर बाद ही लड़की ने आँखे खोल दी, बुखार भी था, वह भी पानी के प्रयोग से भाग गया, तब तक डाक्टर की दवा आगई जो ठीक होने पर क्या काम करती ।

ठंडे पानी का प्रयोग पुराने से पुराने रोगों पर आश्चर्यजनक लाभ करता है, लोग अजमाकर तो देखें कि यह मुफ्त की दवा रोगों को किस प्रकार खो देती है ।

ठंडा टब स्नान:—स्त्रियों के मासिक धर्म की गड़बड़ी, श्वेत प्रदर आदि में और पुरुषों के पेशाब रोगों में तथा आँतों की जलन, सूजन घाव, हर प्रकार के पेट के रोगों पर तथा अन्य रोगों पर बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ है । टब स्नान से वह रोग दूर हुये हैं, जिसको डाक्टर लोग जवाब दे गये थे । मैंने इसका प्रयोग महीनों किया है और २-४ रोगियों पर भी अजमाया है ।

उपस्थ स्नान—स्नायु सम्बन्धी रोगों पर बड़ा अच्छा असर करता है, हिस्टीरिया, मिर्गी, लकवा, गठिया, दुर्बलता में यह स्नान बहुत लाभदायक होता है । इन टब स्नानों की विधि यहाँ नहीं लिख सका ।

भाप स्नान:—शरीर के हर प्रकार के दर्दों में सूजन में, दमा में, कभी-कभी बुखार की हालतों में भी इसका प्रयोग होता है, दमे के रोगियों पर मैंने आजमाया है । पूर्ण लाभ तो भोजन सुधारने पर ही हुआ है ।

पानी का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है वर्ष में एक बार गंगा स्नान आता ही है-हजारों लोग धर्म के लोभ में जबरन ठंडे पानी में स्नान कर ही लेते हैं और हथ्तों ठहर कर कर आते हैं, तथा मन्दिरों में तांबे के बर्तन में चर्णामृत बना कर देते हैं । उसमें तुलसी का पत्ता भी होता है । क्या किसी ने यह भी समझने की चेष्टा की है कि इस चर्णामृत का असली अर्थ क्या है । क्या किसी ने यह समझने की चेष्टा की है कि इस चर्णामृम का असली अर्थ क्या है ? चर्णामृत तो लोहे या चाँदी के बरतनों में भी बनाया जा

सकता है, मगर भाई असली अर्थ तो यह स्वास्थ्य रक्षा के ही हैं । तांबे के बर्तन में जल रखने से तमाम गन्दे कीटाणु उसके ससर से मर जाते हैं और पानी निरोग्य हो जाता है । इस प्रकार प्रात:काल का आचमन शरीर में अमृत का काम करता है स्वास्थ्य के नाम से इस प्रकार कोई नहीं लेना चाहेगा इसलिये इस प्रथा को धर्म का रूप दिया गया । तुलसीदल पेट में जाने से कफ वायु को नाश करता है और पेट के दूषित कीटाणु तुलसी पत्ते से मर जाते हैं तुलसी एवं गंगा स्नान आदि स्वास्थ्य रक्षा के साधन होने के कारण उन्हें धर्म के नाम से प्रचलित किया गया ।

❀ भजन ❀

साधौ, नैन फोरि कहँ जाना !
डगर-डगर सब नगर-नगर फिरि पायो कहुं न ठिकाना ।
ऐसी ठौर चलि बैठि रहौं अब, जहँ नहिं आना जाना ॥१॥
सूर्य न उपजत, चंद न उमगत, पृथ्वी नभ बिसराना ।
हाथ न पाँव न भूखी प्यासी, अन्तर पीर पुराना ॥२॥
ब्रह्मा घूम्यो हिरना बिसरयो पिंडउ गयो हिराना ।
जो ज्ञानी सिरमौर सराहत, वहे धुआँ अनुमाना ॥३॥
थकी न चालत जनम जनम से खोजत ठौर ठिकाना ।
नाच-नाच अब 'संध्या' गावन 'राम मिले, सुख माना' ॥४॥

—'संध्या'

॥ स्तवन ॥

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैस्स्वभावतः
देव एकः स्वमावृणोति स नो दधात् ब्रह्माप्ययम् ॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदोश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं हि देवमात्म बुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुवै शरणमहं प्रपद्ये ॥

[नाभि में जाला रखने वाली मकड़ी की भांति—
स्वभाव से ही प्रधान (प्रकृति) से उत्पन्न तन्तुओं द्वारा—
जो अपने को आवृत कर लेता है, वह एक देव हमें अन्यय ब्रह्म की प्राप्ति कराये ।
जो ब्रह्मा को पहले (ही) उत्पन्न करता है,
और जो वेदों को उसके लिये प्रेरित करता है,
उस आत्म वृद्धि प्रकाश रूप देव की—
मैं मोक्ष प्राप्ति के लिये शरण ग्रहण करूँ ।]

श्वेताश्वेतर उपनिषद

[Who like the spider with the meshes—
Emanating from His own aspect, the Primordial Nature,
Surrounds Himself, of His own accord—That One Lord
May make us reelize the Imperishable Bramha.
He who establishes first the creater Bramha
And who directed to Him (Bramha) the Vedas
That Lord who is of the form of the Light of the Soul Intellizence
Him I seek as refuge, desiring emancipation)

—Svetasvatara Upanished.

MEDITATION ON HEART

(Shri Ram Chandra Ji, President, S. R. C. Mission)

The spirituality has taken a different trend in this age of materialism. Experimental value always precedes the actual thing. At present the real test of a saint is not his real internal condition but his outward appearance. The old ways of spiritual training have been set aside, because the experiments of the inner states are rarely available. Therefore, it now becomes essential to explain first to the readers the proper ways of life to be adopted. Hence arises the necessity for writing something from which the readers may deduce the real grounds on which the whole structure of training stands. My books are written on the basis of my own experience in the line. I have dealt only with the fundamental things, avoiding unnecessary comments, but what is given therein corresponds with the right proportion of the work I have undertaken.

Generally I advise meditation on heart at the point where you feel the beatings. I do not want to expand its vision to the whole of the region of Heart. Therefore, an Abhyasi is to know the heart, as said above to meditate upon. The points A. & B. are also the other points for meditation but I have not prescribed them for you as they are unnecessary at your

stage. We must satisfy our thirst by drinking the water and not by brooding over the cause of it. I have divided the heart into two parts, not dwelling upon its details which are to be understood practically by means of Abhyasa. Of course to the preceptors of the Mission they have been fully cleared because they have to work with them. Various powers of Nature lie hidden in the heart but that is a secret which may not be revealed, since it may lead to the abuse of power gained thereby.

Durring our march we pass through the circles given in the Reality at Dawn. You will find the entire universe along with these circles even in every atom, but it requires a good deal of time and Anubhava to come to its proper understanding. So we must look to the real substance and not to that which it displays. The diagram showing the lower and upper regions of Heart is only an imaginary ground to come to an understanding. How the heart in its lower state takes the reverse trend onwards is a problem not to be understood so easily. If I try to clear this mystery, I may hardly find words to express it, except that the phase is changed and the life is transformed. Then the Heart, instead of being a field for defective mental activities, becomes the playground of Nature. Everything is changed into Real. The pesition of Heart though physically at its own place is also changed.

It may be a greater ambiguity to say that L becomes U, but for explanation of it the word 'Silence' alone will perhaps serve the purpose best. I shall request you to go through the book over again. If you do so you will find answers to all your querries, therein. Putting before you my most favoured view I may say that instead of pondering over how the world came into being we should admire the Being who brought it into existence. This wonder will reveal to you how the creation set in. But when ? Only when you know the Real Being in His real state. If you go on counting the leaves of a tree it is likely that you may soon begin to forget what you have already counted. The method will never enable you to have a taste of the fruit which it bears. If you want to analyse the leaf it is better to analyse the very fruit which it bears. How can you analyse it ? The modern means are to test it in the laboratory and the ancient way is to eat it and digest it to feel its effect. So you must develop the capacity to drink the ocean like Agastha Muni If you go on drinking the water from petty rivulets it may never be possible to get time and age to swallow the whole of the ocean nor ever to reach its very shore.

My advice, therefore to you and to everybody is, 'Seek the Being that seeks you, and not that which tends to neglect you'.

—From a letter to an abhyasi.

MEDITATION

(Shri Raghavendra Rao, B. Sc., B. E., M. I. S. E.)

Meditation is the act of making the thought dwell upon an object. Repeated practice of meditation and increased interest in the object meditated upon make maditation take its natural form. In due course the effort to meditate is minimised to nill and then it ceases to be a willful act. In such state, only the result or the pure knowledge remains. When this (knowledge) too goes out of view, i. e., when the meditation proceeds towards the reality or the essence of the object meditated upon, the real or the natural state is the result.

The above is true only when the meditation is done as it ought to be done and when the object chosen for meditation is in conformity with the result aimed at.

It is a known fact that every act produces a result. Yet it is still a mystery as to what precise result a particular act will produce. There is always a factor of "Adrishta" (Unseen) which governs the results. Nevertheless a close control over the acts and their results is possible to be acquired through the development of the intuitional insight. It will also be observed that the acts themselves are the results of some subtle

causes. When more than necessary interest is attached to have the desired results, without knowing the play of the Adrishta factor, without developing the proper intuitional insight and without being aware of the real cause of the act itself, disappointment, misery and diseases will be the results. Neurotics, maniacs and half-wits fall within this category.

It has already been pointed out that meditation is an act. Naturally, it will have some result. Here too there are various factors working. If it is desired to see a god and converse with him, and consequently by reading some cheap books or on the advice of some neophytes if a picture of a god is taken up for meditation, and carried on by applying the will-force, it will produce some results. The same is the case with the efforts to start the godly vibrations or the so-called "AJAPA JAPA" in the body through the practice of "MANTRAS"The mechanical repitition of "Mantras"like 'OM SHRI ANANTHA SUBRAHMANYAYA NAMAHA' or an easier one like"SOSSSSHAM" combining this with the breath; or more rhythmic ones like "LA-ILAHA-ILLALLAH'or TWO PLUS TWENTY, TWENTYFIVE' which may be easily combined with the steps while walking, will also bring some results. As the real cause or the urge to start meditation is not known and as there is no intuitional insight with regards to the mechanics of meditation and as the Adrishta factor is

working, these acts will start bringing results which the doer of the act had neither anticipated nor desired. Still if the act is pursued further the result will be hallucination, neurosis or insanity.

Due to the dangerous results observed in many cases, some teachers have criticised the path of YOGA, calling it as the method of intense imagination etc And so they have prescribed the way of devotion coupled with emotion for the meditation purposes. But this too is not without risks if unwisely followed. Some people have lost sight of the aim. Some have developed the so called "Saviour-Mania". Some others, again, have fallen prey to the previously mentioned neurotic states of seeing visions and hearing voices.

The thought of so called identification of oneself with the object of meditation has led some in other directions. For example, some 'saints' have usurped the place of God and declare themselves to be such. Some declare that they have come to "save" mankind. Some say that they have brought down God to Earth to effect speedy evolution. Some others, again, proclaim that they are distributing light in the world. And these "gods" or "Saints" have got a large number of devotees too.

Now, the "Gyani" teachers are also no less in number. Almost all our Ochre-colour dressed Swamijis

are "perfect gyanis", no less than "Poorna Brahma Gyanis"! They prescribe various methods of meditations. Their "Gyan" extends from race-course horses to hord Narayana sleeping on the snake in the ocean of milk! They know all about curing of various diseases by invoking the favour of the respective gods ! They can invoke the favour of the Goddess Lakshmi to win in a lottery or a raffle ! And they prescribe meditation !

Still more sophisticated "Swamijis" are there, who have captured God by their knowledge of Scriptures. They can speak for hours together on the public platforms about how the souls have originated from God as sparks of fire, how God created this wonderful world, what happens when the soul departs from its mortal cage, what is liberation etc. etc. They too prescribe meditations; such as to think of the world as a mere illusion, not to love (if not to hate) wife, children, father and mother because they do not follow the daparted soul, to imagine that the wonderful sound of Om is heard when the ears are closed etc. etc. If they get "deserving" disciples they reveal to them that they are Brahmas, the Guru as well as the disciple !

Well, the long and short of the above is that meditation should be taken up after fixing up our aim towards the attainment of the Highest. Then a proper guide must be chosen who is an adept in this art and

who has attained the Ideal. Afterwards one may start the practice as per his instructions. The spirit of doing meditation is the realisation of the reality of the object through linking up the thought with a subtle quality of that object. Hence it follows that meditation should never be done on that which ought be infact the result of meditation. All the confusion and complexities are due to the negligence of this primary principle. If fortunately one comes across the Master of the Highest attainment, he should meditate upon the form of the Master in order to realise Him.

All the more, if one meditates upon the form of the master of Highest attainment he is apt to go upto the goal and it is the easiest process. The accuracy of this method is found by testing it but the general way of meditation is prescribed as to meditat on the Divine light to achieve the same end, so that it may suit every mentality. The reality behind is inexplicable.

To go beyond the bounds is the work of the saint, and to remain within the bound is the work of ordinary person. How we should examine the methods prescribed as to whether they keep us within bounds or carry beyond ! If the latter is the result of meditation and proper guidance is available, they will do well. None can proceed to higher regions without the help of guide because the direct power is working to keep one

in the form as one is. How to reconcile when objections are raised on each point of good thing without testing the accuracy. It happens mostly when you take the direct route to God. The mentality is so perversed that they will like to grasp not the true sense but the lines leading them towards something other than the goal; because they hear such things from almost all platforms.

★ ★ ★ ★

Once in a gathering of Satsangis a discussion on the form of meditation was going one.

A person who had long been used to meditation between the eyebrows, asked the master, "Sir, why do you insist on meditation on heart ? I find meditation at the Ajna Chakra more pleasant."

The master replied, "To begin with I take up the heart as the point of meditation, because you naturally put your finger where the itch is taking place. However, other points may also be taken according to the needs of an individual abhyasi."

Talks on Shri 'Babu Ji's'

Commentary on Ten Commandments of the Sahaj Marga

(By Dr K. C. Varadachari M. A. Ph. D. Reader in Philosophy, Shri Venkateshwar University, Tirupati, S.I.)

Commandment 5

Be truthful. Take miseries as divine blessings for your own good and be thankful

This is one of the most difficult commandments especially as we are not able to see the rightness or justness of our sufferings which are of all sorts. For no fault of ours we find ourselves humiliated and hurt and we begin to question whether there is any justice anywhere. The trouble seems to be that in a relative world, what is one man's joy is another man's misery, and the setting of one's rightness above another's seems to be difficult. There are different criteria about what is just. It appears to be just to punish anyone who had the fortune or rather misfortune of having been born in a higher class or caste and to readjust the order of society so as to make the low class or the poorer class the higher class. The haves have to be made have-nots and have-nots have to be made haves, and this is said to be restoration of justice or social justice. So also we find that with varying difficulties the concept of justice

is so throughly ambiguous and relative that there is no one absolute principle by which one can say that this is just. Even in regard to our health where the restoration of it may be said to be our aim, we have different voices, which have no concept of health as the goal and that real health is that which makes one really a thinking and intelligent and wise man, rather than one who some-how is protecting the body for the body's sake.

Since this justice of the world's activities and the deserts that one gets seem to be inscrutable men are in despair. The only way to see our way through this maze of despair is to practice truth to oneself and in one's life without caring for the consequences of such life. Thus the practice and habit of truth-speaking, and truth perception will entail the change of attitude to the problems of justice. The reality when begins to appear as it is, Master Sri Ram Chandraji points out that the life of man should be in conformity with the highest state which alone will make us see truth as it is and make us arrive at the knowledge– 'It is as it is'. The Upanishad (Isa) speaks of the soul that sees things as they are in themselves (tathya) eternally or from beginningless time as a KAVI, a PARIBHUH, as SWAYAMBHUH poet, all becoming seer and self creative seer. Plato indeed speaks of this truth speaking as funda-

mental, but truth speaking cannot even take place unless one devotes oneself to the highest goal or aim of life. Justice will not appear to one who is all the time engaged in doing the unjust, thinking that he is doing the just. Unspiritual life usually breeds these inversions of value and truth, so much so that the truth begins to appear as falsehood or lie. (Indeed Plato in the 'REPUBLIC' very apologetically and ironically says that he will tell a lie or a false story in order to illustrate his point, and the great scholars in the West seriously have argued that he told a lie and wished to use lie in order to preach truth or make one accept his conception of truth. Nothing can be more absurd than this, for inverted men hardly can see reality as it is and truth to them appears to be false. Similarly Sri Yamunacharya in his Gita-commentary speaks of the extraordinary psychological difficulty or Arjuna as not so much lying in his view that 'the false appears to be true' but that it lay in his taking the right view to be false, for he considered his dharma to be adharma; and the entire Gita is undertaken to dispel this most serious error. Similarly we find we take our present miseries as unmixed evil, humiliation as evil, and so on, and we think in the converse that the joys and pleasures and wealths as unmixed blessings of God. This is about as mistaken a view as any that can be taken, for we are obviously suffering from VIVARTA or inversion (which is the best

translation of that original term, and not illusion, though the illusion arises from and can arise from this inversion. Thus what are God's blessings could be mistaken as punishments and what is intended to purify man as injuring him. Many a man and woman, child and widow, have complained about the injustice of God, the poor and the lowly have always cried to heaven against the death and disease that overtake them as well as the deep indignity of life itself to them. Death seems to be a good friend, alas! Suicide is seen to be the only way out of this disaster or loss of faith in the world and men and nature and finally in God Himself.

Such being the case it almost appears that men come to spiritual organization for knowing the meaning of their misery and suffering, and getting rid of them, but if we say that it is God's blessings the whole explanation is, to say the least, disappointing and disquieting. So comlete is man's condition that it is obviously difficult to convince himself of the goodness of evil or rather of what is misery and humiliation and even the occurrence of what we consider to be right or dharma. This being one of the greatest difficulties of spiritual life one cannot get over this by any means except by the Grace of God and the Master himself. If, of course, such a grace seems to be lacking then it is that one turns against the whole spiritual way of life

as meaningless. To be thankful for our miseries and trials obviously follows from the fact that all that occurs is owing to Divine Will. Master indeed writes (in a letter) that since God cannot but be good all that occurs is good and no one can think even that God gives the evil or the wrong, or that adharma even prevails. If this problem is stated in this manner then it becomes clear that one need do nothing but accept one's fate and suffer through all this, and to seek freedom from misery is to accept it as God's gift. Adharma and dharma begin to have no opposition between one another. But perhaps it may be said that one pursues dharma because it shows your love of God rather than that it is dharma, and you would indeed do anything that you are instructed by Gurus as Dharma even when it goes contrary to our cherished traditions and conscience.

However the commandment is unambiguous. One who accepts this path must accept all as God's gifts and be thankful. This demands more faith than reasoning and depends on it more fully than anything else.

★ ★ ★

Commandment 6

Know all persons as brethren and treat them as such.

In this world all religions and groups desire that each of its members should call theest ras brothers; if woman, sisters. This has become so common because all of them believe that we are

all born of one source and in another sense we are all going to the same common source. So we can be brothers because of our origin from God or One God, and we are all brothers because we are going towards one God or Goal. The usual meaning, of course, is an extension of our being born of the same mother and father. In a world where truth and non-possession are prevailing it is clear that brotherhood involves participation in the common good life, but in our world today since possessiveness and desire are governing our minds and thoughts, brotherliness is forgotten, and to speak of brotherhood is to be in conflict and rivalry. We know how it had become quite a peril to be born as a brother to a king or as an heir to any throne or place of power. Therefore, I have always had a fear of the word' 'brother' because of its sinister implications.

Therefore, when we speak of treating every pesron as a brother it is in respect of helping him to reach the One supreme or Ultimate Goal in all manner of ways. We must see in him a soul striving for peace and inward growth and union with God.

When speaking about the seventh GRANTHI in the Anant-ki-Oer, Sri Ramchandraji has spoken of its being in the Brahmanda and that all rishis (including Durvasa) got their powers from it and passed it on for work in the world (pinda-pradesh). Brotherhood may mean that

one out of love wishes to impose transformation in another also, and thus bring lot of misery or weeping to all people, even with good intentions. Force cannot enforce the change but for a brief while; and therefore this power cannot be used at all for change unless by God himself and most probably Rishis use it as instruments of God alone.

Brotherhood in a subtle sense means to change in a spiritual way or satvically the heart itself and make it seek inward peace and spiritual growth. This service must be done without harshness or cruelty but dispassionately and consistently. An Abhyasi must help others to come to Abhyas and participate in the peace that this practice grants even on the first day. There is in every one undoubtedly the fraternal feeling and this comes out most when one has achieved some good or some deep sorrow. The former requires sharing as much as the latter. Most people require to be congratulated or condoled. Indeed all persons require to be condoned or excused their sins also on the same basis, appealing to the basic principle of humanity, (to err is human, to forgive is divine) and sympathy and so on. The great teachers of mankind have always insisted upon this fraternal aspect of all reality and this is not limited to human beings alone but also animals and plants which have gone farther down in the process of grossening. It is true that some of them are ascending

and some are moving downwards (urdhva-mukha and adhomukha) which are by Sri Krishna equated almost with the da'vi and asura prakratis. Obviously those who plead for the fraternity confuse between these two and think that all mankind is one and has one direction, and that whilst both have the forms of men they have different directions for ascent (for the ascent to the one appears descent to the other.)

How then can it be said that all persons were to be treated as brethren ? The truth is that the ancients considered them to be brothers but brothers in opposition rather than in conjunction and unity. It is just possible that because of their opposition they make this world-process move either way and without this conflict there can be no world at all. The ANTARMUKHA and BAHIRMUKHA or PRATYAK and PARAN-MUKHA beings are indeed our problem of the original evil, the struggle of God and Satan and so on. Avatars undertaken for the purpose of restoring dharma had invariably been through Divine Force or battle for conversion or transformation of the ASURA and the RAKSASA through DANDA (punishment). SAMA. DAMA, DANDA, BHEDA are the four means of converting creatures to the dharma. By persuasion, by gifts and by dialectical argument and lastly by force or punishment men have been educated. Perhaps we may see clearly that these four ways are suitable to four

types of men or all may be required in some cases. Fraternity will be imperilled if only force is used. These methods are all political and social, and hardly spiritual. But it may be said that these methods are not all fraternity-encouraging.

Brotherhood concept thus has entirely to be removed from its social setting and turned to spiritual assistance and without any distinction. In spiritual life it is necessary to discover the nature of man and accordingly offer assistance as elder brothers on the path. Master calls all his followers or disciples associates, those who are associated with him for the great work of liberation of man or oneself and therefore offering free service to all those who aspire to know their nature. This fraternity is in service and realised through service of every one in the same spirit that animates one's own spiritual aspiration.

The whole world is one and it is one of the greatest ideals of the human race to achieve this fraternity of all races. Mostly thanks to the growth of science and the impaet of man on man, we are realising that despite the divergent tendencies of certain types of men every where, the human being is seeking to get over the threat to its very existence. A world government is being thought of as the most feasible method of saving humanity itself from self-destruction and anni-

hilation that means the annihilation of all life itself on this planet thanks to science, But fraternity is not capable of being merely realized by the mere consepts of oconomic equal distribution or even by the removal of all those conditions that breed war and strife and rivalry. Spiritual disruption that has been underway has to be removed and spiritual unity has to be forged in the hearts ef men as well as in their ideologies. It is surely a great thing that though materialism has scored victories, it is not so much matter but ideology that moved it to such expansion of its claims for equality and fraternity of all peoples everywhere, though people have been reckoned as human when they conform to the theory of working class or the proletariat. We are passing out of that rigid limitation of work to manual labour, but we are already in the equation of work with clerical and supervising work. Unless real education becomes in its true spiritual sense possible, brotherhood will remain an idle concept and an ideal that can only be spoken of and cannot be practised.

So in our SAMSTHA we do not make it a catchphrase. It is a working concept for self-education and growth of all abhyasis and leads to sharing in Ultimate Grace and transformation of ourselves into Divine nature. Spiritual force is all that we can have for mutual help and transformation. As in ancient times we must pray to God for the welfare of all creation-

LOKAH SAMASTAH SUKHINO BHAVANTU. The compassion of Buddha or Ashoka is not so much for the physical and the economic miseries of mankind as for the spiritual distortion and perversion of man which they sought to rectify as brothers of man and all creation. The true passion and all embracing passion of the Guru and God is precisely this efforr which they take for saving the souls from wandering into the wilderness of materialism. Pray for the change of all men towards the Divine and seek to assist all to change themselves. God alone is our refuge and guide and power to lead us to that society of spiritual brotherhood all the time and for ever.

(Series to be continued)

★ ★ ★ ★

In a discussion among Satsangis over the question of the rationality of the methods of Sadhana, the master intervened, "The do's and dont's of the grown up parents very often appear most unreasonable to children, though these are for their own good; and they automatically come to grasp the reasonableness of these, as they grow up."

',What attitude should be adopted by an abhyasi towards the methods of Sadhana before the reasonableness of these is revealed to him" ? A Sincere enquirer asked.

The master replied, "The Abhyasi must know it for certain that whatever he does by way of Sadhana, he does it for his own progress towards the goal. No doubt his action has a larger meaning and value, but he should not pretend to have taken up the work of the Master by trying to plan and control these larger effects, unless such a task is assigned to him by the Master Himself."

MISUNDERSTANDINGS ABOUT YOGA

IV—SADHAN CHATUSHTAYA

(Shri Ishwar Sahai)

The fonr Sadhans—means—of yoga, prescribed nnder the Vedanta system are Viveka, Vaeragya, Kshat-Sampatti and Mumukshatva. Much importance is attached to them and an Abhyasi is required to practise each in turn in his usual routine. According to the Vedantic view the practice of Yoga must start with Viveka a sense of discrimination between the real and the unreal. The physical forms of things being subject to change and finally to dissolution are treated as unreal. Thus the universe with everything it contains is taken to be false and illusionary, whereas the only real thing at the root is the Unchanging and Eternal Brahma. This understanding is of course but essential for the pursuit and none can ever deny it. But to take it as the primary means or Sadhana would perhaps be the gravest blunder, which may probably lead to grosser physical impositions for making an outward show of it without having the least effect upon the mind. Viveka refers actually to the inner feeling of the mind which brings to our cognizance the real value of life in respect of the material forms. Man's concern with matter is indispensable. The grosser physical forms, in which the matter appears, are so deeply inter-related with the physical existence of man that they can not be avoided under any circumstances so long as he possesses a physical body. His over-attention to the physical form

of self is in fact the root-evil which causes all entanglements. It is on account of this alone that our attachment with material objects deepens so much that we lose consciousness of the transitory character of things we are connected with. The physical self, being the foremost in one's view, begins to appear to him as real and every thing connected with it acquires a substantial value. Thus the unchanging eternal phase at the root of the entire material manifestation is almost lost sight of and practically ignored in all physical activities of the mind. It is this understanding of the unstability of the physical existence of things which is really refered to by the word Viveka and which is to be awakened at the very preliminery step. In short Viveka in itself is not at all a Sadhana but only the result of the Sadhana.

When this understanding is awakened and the real character of things is revealed to mind, the true knowledge of existence is gained. Naturally then an Abhyasi would begin to feel less inclined to and more disinterested In the things he is surrounded by and whose illusionary character has established upon his mind. Every thing will then lose its charm and he will to some extent be free from attachment. This is in true sense the beginning of what is known as Vaeragya. It is thus the direct result of Viveka and pertains to the inner feeling of the heart. It can by no means be a Sadhana of Yoga.

The popular interpretation of Vaeragya as ascetic aloofness from world-relationship or hatred for worldly possessions, rejecting and discarding everything, is based on grossly mistaken notion. The real difficulty on the path is not in regard to possession of things but to the charm and attraction which they offer by reason of their being a source of sensual joy and bodily pleasure. This over-attachment–Maya Moha–for worldly objects in the interest of the physical self is in fact the root evil which is responsible for all our entanglements, which finally result in the diversion of mind from Reality. Vaeragya, in true sense is neither physical detachment nor non-possession nor anything of the kind but only pure and simple unattachment or disinterestedness in things which appear to be superfluous. A man leading a worldly life, possessing and utilising all things for his genuine needs may also well claim to be in a state of Vaeragya if he is free from the feeling of attachment for them and takes every thing in the sense of means for discharging his fair duties.

The Sahaj Marga, therefore does not treat Viveka and Vaeragya as the Sadhanas but only the results achieved by continual practice of certain Shdhanas. For this reason it makes a start from Kshat-Sampatti, the third Shdhana of the Vedantists which pertains to the regulation of mental tendencies in six different ways, The first of these, Sham, relates to the proper regulation of the mind and is the very initial step in the Yogic

pursuit. The second 'Dam' refers to the control of senses and Indriyas. The third 'Uparati' is self-withdrawal, The fifth 'Shraddha' the real faith, and sixth 'Samadhan', a state of self-settledness. But here too the Sahaj Marga effects a diversion from the set old routine in as much as it does not treat all the sub-classes of this Sadhan, in any way different from each other. In fact they are all one, differing only in their outer aspects.

The most primary among them is the proper regulation of the mind, which when effected will produce corresponding effects upon other tendencies also. Thus the control of senses and Indriyas, self-withdrawal etc. will all follow automatically in the natural course. In fact Regulation of the mind covers all these and causes an all round effect regulating every tendency. Therefore while taking a start from Kshat-Samatti, under the Sahaj Marga System, we take into account only the regulation of mind leaving every thing to follow as the natural result of it and for this the process–Sadhna–prescribed under the system is also one, viz Meditation on the heart.

In short the Sahaj Marga thus presents a modified course of Yoga, adoptable in an ordinary worldly life and easily adjustable in all circumstances and conditions of life, rejecting all misplaced superfluities imposed by idle commentators and self-seeking teachers. A practical experience alone can verify the fact and convince an aspirant of the efficacy of the system.

(Series Concluded)

PRICELESS GEMS

(Shri Ram Das Chaturvedi, Advocate)

The following is a collection of some important points from the writings and teachings of shri Babu Ji the revered propounder of the Sahaj Marga way of Sadhana. Most of this material is taken from the letters written by him to his disciples from time to time. Where the original letter is in Hindi or Urdu, I have found a literal translation into English quite difficult. In such cases I have tried to remain to the real sense to my best capacity. Hence wherever a doubt or controversy may appear to arise, reference must be made to the original.

" We should love all but without feeling attachment towards individuals as such."

" We must serve our children regarding them as children of God. We should regard ourselves as trustees appointed by God for their all round well being."

" 'We should be ready to serve all and thank those who give us an opportunity of serving them'.

" We must never harm others but we must fight in self-defence of person and property'.

"When we start practising, and are in quest of our goal, we fix upon that which seems helpful to us in our pursuit. We consequently begin to imagine that

every-thing depends on God's will, so that we may remain connected with him. It gradually develops into closeness and attachment which in true sense means the beginning of Laya Avastha (merging). For that we practice love, devotion and all other means conducive to our purpose. We can as well say that our free will extends so far as our limited sphere goes and God's will as far as His unlimited sphere goes. We cannot profess our will to be the same as that of God's until we shatter our limitations and bondages. This is our real pursuit and we do it in order to secure merging with Reality.'

'The real sacrifice is not to leave the job or office or retire to the forest, but to lose your own self. That is needed in a true seeker.'

'Nirvikalpa Samadhi can bring you to a state of salvation but liberation is something else, as given in the 'Reality at Dawn.' The real state of Samadhi is that in which we remain attached with Reality, pure and simple, every moment, no matter we may be busy all the time with our woredly work and duties. It is known as 'Sahaj Samadhi', one of the highest attainments and the very basis of Nirvana.'

'Absorbing in Reality means that the man should not feel anything in him. He loses the feeling of his

body, mind and soul etc. This is the condition of Real God.'

'Our goal is pure and simple– 'Zat and Zat' alone. Only ignorant persons can reach there'.

'On the back side of the 'First Mind' there is Centre or the 'State of Tam'. When you jump above the First Mind you reach the Centre or Almighty. When you reach there and become one with the State of Tam you have realized the true Reality'.

'Self has always a longing for its Realization. It is only possible when it becomes one with the Centre'.

'We searched for potentiality of consciousness, which creates consciousness and when that too was gone we found ourselves on the verge of true Reality-pure and simple. The origin of potentiality is Tam, the last resting place of a Yogi. The liberated souls partake of it-the real thing-according to their rank and status'.

'It would be quite wrong to say that 'Realization of oneness or nothingness' is Realization of truth. Truth remains predominant before we reach the Central Region. In spiritual science people generally call Truth what remains after matter ends. But after matter or solidity ends there comes Activity Proper or stimulus (Chaitanyata). After going further we reach a stage from where

both matter and stimulus have come. After this we reach Inactivity or nothingness. Truth is really the Refuse of the condition of nothingness'.

'In Maha-Pralaya only the so-called Zero remains'

'Nothingness conveys the idea of something powerless. Centre has no action in it though near about it are the invisible motions. It conveys the idea of something motionless and mute. It is infinite within itself. Expression and imagination fail altogether'.

'Centre is absolutely motionless and in it there is no energy, no power, nor anything of the sort'.

"Common conception of God is Eternal Power. Philosophic conception of God includes Nirguna Bramha (Indeterminate Absolute) which is above all multiplicity and distinctions. It is the ultimate cause and substratum of existence, the supra-active centre of the entire manifestation or the Absolute Base. It is beyond quality, activity or consciousness. It is also known as Par Bramha".

"God is neither Sakar nor Nirakar but beyond both".

"The Recreation (Tafrih) of Fakirs is ignorance and that of Kamilin (experts) is total ignorance. When remaining in this condition for some time they forget

it to such an extent as to retion no ides of it, then there remains nothing to feel any Tafrih about, then there is Asal and Asal alone. So long as we are in Tafrih, our connection with 'I' does not come to an and. We remain, so to say, in worldlinese. Asliyat i,g Reality is after total ignorance".

"The thing that is Asal al true Reality is neither Light nor Darmess. It can be called 'Dhundhlapan'—(धुंधलापन)

"When there is our ठिकाना or home, neither air nor light can reach there. It is a महफिल or congregation where there is no lamp. There is no चंचलता or चमत्कार(i. e., activity or singh worth-seeing".

"I have to take you all to such a lonely महफिल or congregation where सुनसान पना or 'loneliness will appear to be a thousand times heavier. Mhat is rhe the perfection, which is possible for a hnman being to achieve.

"Truly speaking, we have to keep ourselves aloof from duality as will as you-Duo lcty. Then we will get the condition of 'What is, is' ". (जो है सोहै)

"Ween after full advancement our mind gets Laya Avastha in its Asal or origin, then we get the change-

less condition which eAen God does not possess. This thing is to be found in Bhuma and B-huma alone"

"Losing all knowledge about bonsiousness" and unconscioufness' shows that a deep relation has been establisoed between you and Him who is above these things, but if you were to forget Him or That with whom this relationship has been established, then there is Asal and Asal alone".

"You are in true 'Purity', when you cease to have any experience of it, and woen everything disappears teere is Asliyat and Asliyat alone".

"Changeless conbition is the last बका (Life). No Tarap (desire to achieve) with weasevess) दर्द दिल or any other conbition remains there then. It is the highest spiritual state. Nothing is to be acquired after is.

"Automatic working is one of the qualities of God. When an aspirant loses all knowledge about this fact then he is in its true condition".

"A grand daugter has been born to me, but I do not feel like that, then how can I feel glad for it".

"Anybody may abuse me or beet me. This will have no effect on me, why should I take ill about it,

because if I am a human being, that is only for a minute or so. After that I am as usual or as I was before it".

"On hearing my praise, my mind too gets pleasod a little, but I never come to know as to who is being praised or who is getting pleased".

"Whee I see anybody after separateng myself from my condition, in which there is no 'I', I being to think that that person is for superior to me in Adhyatma Vidhya . At time I go further and then I begin to think that that person has taught me spirituality and that whatever † possess of Adhyatmikta war bestowed by him on me. This means that root of all of us is one and the same, one man has kept himself connected with it, another has lost sight of it or forgotten it."

" A perfect humen boing is he who knows rverything present in nature or in all that it has made, remaining all the time ignorant of his knowledge. He must know all branches of knowledge and sciences. If anybody asks from him about any of these, he should start telling him of what he wants to know , in a natural way."

"I continuously do automatic workink all the time, sitting or lying."

"on account of livinn in negation for a very long time, I have become संघ बे नमक i.e., an unalloyed piece of stone. I do not like to get out of this condition even for a moment, Unchanging condition is the true state. A man getes condition of dead-aliveness when he goes so much away frcm worldliness that it appears to him as unreal as a dream to a man awakened from slecp. Comlete negation is that in which we get so dissolved in God that we neither know ourselvesnor him. The object of a Yogi is to get eontrol over nature but he can get full and complete control over it only when he mereges himself fully and completely in God."

"You say that you have unconsciousness in you. Unconsciousness is a characteristic of soul. It is felt when we get rid of worldly ideas. This unconsciouness goes on increasing till we get ourselves totally merged in God.

Shri Babuji's literature is more difficult than even intelligent readers are apt to consider on their first reading af it. In my humble opinion, his literature is like an ocean, the more one will diwe in it. the more pearls he will gather out of it. The words nsed by him are not difficuit. His metaphors and similies are very instructive and clarifying, but thehigh and Divine ideas underiying them are not easy to be fathomed. Divinity is slender and very thin. To reach it through words is not as easy task.

TEN COMMDNDMENTS OF SAHAJ MARGA

1. Rise before dawn. Offer your prayer and Puja (worship), at the fixed hours, preferably before sunrise, sitting in one and the same pose. Have a separate place and 'asan' (seat) for worship. Purity of mind and body be specially adhered to.

2. Begin your puja, with a prayer for spiritual elevation, with a heart full of love and devotion.

3. Fix up your goal which should be 'Complete Oneness' with God. Rest not, till the ideal is achieved.

4. Be plain and simple, to be identical with Nature.

5. Be truthful. Take miseries as divine blessings for your own good and be thankful.

6. Know all people as brethren and treat them as such.

7. Be not revengeful for the wrongs done by others. Take them with gratitude, as heavenly gifts.

8. Be happy to eat in constant divine thoughts, whatever you get, with due regard to honest and pious earnings,

9. Mould your living so as to rouse a feeling of love and piety in others.

10. At bed time, feeling the presence of God, repent for the wrongs committed. Beg forgiveness in a supplicant mood, resolving not to allow repetition of the same.

श्री रामचन्द्र मिशन का प्रकाशित साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
1- Efficacy of Rajyoga	by Shri Ramchandra Ji Shahjahanpur (U. P.)	(रु० नयेपैसे) 2-50
2- Reality at Dawn	Do	1-50
३- सत्योदयम् (तमिल)	अनुवादक श्री अ० वालसुब्रह्मण्यम् (No. 2 in Tamil translation by Shri A. Balasubramaniam)	1-50
४- सहजमार्ग के दस उसूलों की शरह (उर्दू)	श्री रामचन्द्र जी, शाहजहांपुर (उ० प्र०)	१-५०
5- Commentary on Ten Commandments of Sahaj Marga (No. 4 in English translation by Shri Raghavendra Rao)		1-50
६- अनन्त की ओर	श्री रामचन्द्र जी, शाहजहाँपुर	१-००
७- गुरु शन्देश	,, ,,	०-२५
८- सहज समाधि	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०)	०-२५
९- सहज मार्ग पत्रिका की फाइल (द्वितीय वर्ष)		अजिल्द ३-०० सजिल्द ३-५०
१०- ,, ,,	(तृतीय वर्ष)	,,
११- ,, ,,	(चतुर्थ वर्ष)	,,

मिलने का पता—सेक्रेटरी, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहांपुर उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

Shri Krishna Press, Lakhimpur.